ॐ

श्रीआद्यशंकराचार्यविरचित

प्रबोध-सुधाकर

हिन्दी अनुवाद सहित

अनुवादक

मुनिलाल

ॐ

श्रीआद्यशंकराचार्यविरचित

प्रबोध-सुधाकर

हिन्दी-अनुवाद-सहित

अनुवादक

मुनिलाल

प्रकाशक

गीताप्रेस, गोरखपुर

मूल्य ≡)॥ साढ़े तीन आना

मुद्रक तथा प्रकाशक
घनश्यामदास
गीताप्रेस, गोरखपुर

सं० १९८८ प्रथम संस्करण ३२५०
सं० १९९० पुनर्मुद्रण ३०००

श्रीहरिः

विषय-सूची

विषय	पृष्ठ-संख्या
१–देह-निन्दा	१
२–विषय-निन्दा	८
३–मनोनिन्दा	१५
४–विषयनिग्रह	१६
५–मनोनिग्रह	१९
६–वैराग्य	२२
७–आत्मसिद्धि	२५
८–मायासिद्धि	२८
९–लिंगदेहादि-निरूपण	३२
१०–अद्वैत	३५
११–कर्तृत्व-भोक्तृत्व	३९
१२–स्वप्रकाशता	४०
१३–नादानुसन्धान	४२
१४–मनोलय	४३
१५–प्रबोध	४५
१६–द्विधाभक्ति	४८
१७–ध्यानविधि	५२
१८–सगुण-निर्गुणकी एकता	५५
१९–अनुग्रह	६४

ॐ

सूचना

भगवान् श्रीआदिशङ्कराचार्यके ग्रन्थरत्नोंका हिन्दी भाषान्तर मूल-सहित प्रकाशित करनेका विचार प्रबोध-सुधाकरके प्रथम संस्करणमें निवेदन किया गया था। उसके अनुसार इस समयतक जो ग्रन्थ निकल चुके हैं उनका विवरण यहाँ दिया जाता है। परमार्थ-तत्त्वके प्रेमीगण इनको पढ़कर लाभ उठावें यही प्रार्थना है।

श्रीमद्भगवद्गीता–मूल और शांकरभाष्य एवं उसके हिन्दी-अनुवाद-सहित, ३ चित्र, बड़ा आकार, सुन्दर-शुद्ध नये ढंगकी छपाई, अर्थ बहुत शुद्ध किया गया है। पहला संस्करण समाप्त हो चला है। मू० साधारण जिल्द २॥) कपड़ेकी जिल्द २॥।) पुस्तकको देखते मूल्य बहुत साधारण है।

विवेक-चूडामणि–मूल श्लोक और हिन्दी-अनुवादसहित, श्रीशंकराचार्य-जीका एक चित्र भी लगाया गया है। अनुवाद सरल है। प्रथम संस्करण समाप्त होकर दूसरा नया संशोधित अभी छपा है। मूल्य केवल ।≶) सात आना।

प्रबोधसुधाकर–आपके हाथमें है।

अपरोक्षानुभूति–मूल और सरल अनुवादसहित। श्रीउड़ियास्वामीजी-का चित्र भी छापकर लगाया गया है। मूल्य =)॥ ढाई आना मात्र।

प्रश्नोत्तरी या मणिरत्नमाला–मूल श्लोक और हिन्दी-अनुवादसहित। छपाई बड़े सुन्दर ढंगसे की गयी है। हर एक प्रश्नके सामने ही उसका उत्तर छाप दिया गया है। मूल्य)॥ दो पैसा अत्यन्त सुलभ है।

सभी पुस्तकोंमें उत्तम कागज लगाये गये हैं। विष्णुसहस्रनामके शांकरभाष्यका अनुवाद भी छप रहा है। शीघ्र प्रकाशित होगा।

पता–गीताप्रेस, गोरखपुर

ॐ

पुष्पाञ्जलि

माटी-मिस जिन मातु बिस्व मुखमें दिखरायौ ।
लुक-छिप माखन खाय मोद ब्रज-बधुन बढ़ायौ ॥
ग्वाल-करनको कौर छीनि जिन रुचि-रुचि खायौ ।
बनि रसिकन-सिरताज मदन-मद धूरि मिलायौ ॥
जो लीला-रस विस्तार-हित निरगुन प्रगटे सगुन ह्वै ।
उन ललित-ललन नँदनँदनके पद-पदुमन यह सुमन द्वै ॥

—अनुवादक

श्रीहरिः

निवेदन

लीलाविहारी श्रीजगदीश्वरकी कृपा-कटाक्षसे प्रबोध-सुधाकरका द्वितीय संस्करण प्रकाशित हो रहा है। प्रथम संस्करणमें पाठ और अनुवादमें कुछ अशुद्धियाँ रह गयी थीं। उनके विषयमें पूज्यपाद श्रीरामस्वामीजी, पं० श्रीहाराणचन्द्रजी भट्टाचार्य तथा श्रीरामावतारजी शर्मा विद्याभास्करने अपनी अमूल्य सम्मति देनेकी कृपा की है; अतः मैं उनका अत्यन्त कृतज्ञ हूँ।

अनुवादमें यथासम्भव मूलका अक्षरशः भाव देनेकी चेष्टा की गयी है। जहाँ किसी शब्दका पर्याय अथवा भाव लिखा गया है वहाँ (   ) ऐसे और जहाँ प्रसंगवश कोई बात ऊपरसे लिखी गयी है वहाँ [   ] ऐसे कोष्ठका व्यवहार किया गया है।

विनीत

अनुवादक

प्रार्थना

इस छोटे-से ग्रन्थमें आचार्यने सारे मुख्य सिद्धान्तोंको गागरमें सागरकी भाँति भर दिया है। प्रथम संस्करण शीघ्र समाप्त होकर नया संस्करण पुनः निकल रहा है, यह हर्षकी बात है। इस नवीन संस्करणमें इसी ग्रन्थमें वर्णित ध्यानके अनुसार भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजीका नवीन दर्शनीय चित्र लगाकर इसकी उपयोगिता बढ़ानेका प्रयत्न किया गया है। पाठकगण इससे अधिकाधिक लाभ उठावें।

प्रकाशक

ॐ श्रीपरमात्मने नमः

प्रबोधसुधाकर

देह-निन्दा

नित्यानन्दैकरसं सच्चिन्मात्रं स्वयंज्योतिः ।
पुरुषोत्तममजमीशं वन्दे श्रीयादवाधीशम् ॥ १ ॥

नित्य एकरस आनन्दस्वरूप, सच्चिन्मात्र, स्वयंप्रकाश, पुरुषोत्तम, अजन्मा और ईश्वर, यदुनाथ श्रीकृष्णचन्द्रकी वन्दना करता हूँ ।

यं वर्णयितुं साक्षाच्छ्रुतिरपि मूकेव मौनमाचरति ।
सोऽस्माकं मनुजानां किं वाचां गोचरो भवति ॥ २ ॥

जिनका साक्षात् (विधि-मुखसे) वर्णन करनेमें श्रुति भी मूकके समान मौन हो जाती है, वे (भगवान्) क्या हम मनुष्योंकी वाणीके विषय हो सकते हैं ?

यद्यप्येवं विदितं तथापि परिभाषितो भवेद्देव ।
अध्यात्मशास्त्रसारैर्हरिचिन्तनकीर्तनाभ्यासैः ॥ ३ ॥

यद्यपि भगवान् ऐसे हैं तथापि अध्यात्मशास्त्रोंके सारोंसे तथा हरि-चिन्तन और कीर्तनाभ्यासादिसे उनका कथन किया ही जाता है।

क्लृप्तैर्बहुभिरुपायैरभ्यासज्ञानभक्त्याद्यैः ।
पुंसो विना विरागं मुक्तेरधिकारिता न स्यात् ॥ ४ ॥

सम्पादन किये हुए अभ्यास, ज्ञान और भक्ति आदि नाना उपायोंसे भी बिना वैराग्यके मनुष्यको मुक्तिका अधिकार नहीं होता।

वैराग्यमात्मबोधो भक्तिश्चेति त्रयं गदितम् ।
मुक्तेः साधनमादौ तत्र विरागो वितृष्णता प्रोक्ता ॥५॥

वैराग्य, आत्मज्ञान और भक्ति—मुक्तिके ये तीन साधन बतलाये गये हैं, इनमें तृष्णाहीनतारूप वैराग्य ही प्रथम है।

सा चाहंममताभ्यां प्रच्छन्ना सर्वदेहेषु ।
तत्राहंता देहे ममता भार्यादिविषयेषु ॥ ६ ॥

वह वितृष्णता समस्त देहधारियोंके भीतर अहंता और ममतासे छिपी हुई है। उनमेंसे अहंता देहमें होती है और ममता स्त्री-धन आदि विषयोंमें हुआ करती है।

देहः किमात्मकोऽयं कः सम्बन्धोऽस्य वा विषयैः ।
एवं विचार्यमाणेऽहंताममते निवर्तेते ॥७॥

'यह देह किससे बना है और इसका विषयोंसे क्या सम्बन्ध

है ?' ऐसा विचार करते रहनेसे अहंता और ममता निवृत्त हो जाती हैं ।

स्त्रीपुंसोः संयोगात्सम्पाते शुक्रशोणितयोः ।
प्रविशञ्जीवः शनैः स्वकर्मणा देहमाधत्ते ॥ ८ ॥

स्त्री और पुरुषके संयोगसे रज और वीर्यका मेल होनेपर जीव अपने कर्मानुसार गर्भमें प्रवेश करके धीरे-धीरे देह धारण करता है ।

मातृगुरूदरदर्यां कफमूत्रपुरीषपूर्णायाम् ।
जठराग्निज्वालाभिर्नवमासं पच्यते जन्तुः ॥ ९ ॥

फिर नौ मासतक मल-मूत्र और कफादिसे पूर्ण माताकी कोखरूप बड़ी भारी कन्दरामें पड़ा हुआ यह जीव जठरानलसे जला करता है ।

दैवात्प्रसूतिसमये शिशुस्तिरश्चीनतां यदा याति ।
शस्त्रैर्विखण्ड्य स तदा बहिरिह निष्कास्यतेऽतिबलात् ॥

प्रसवके समय यदि दैववश बालक टेढ़ा हो जाता है तो उसे शस्त्रोंसे काट-काटकर अति बलपूर्वक बाहर निकाला जाता है ।

अथवा यन्त्रच्छिद्राद्यदा तु निःसार्यते प्रबलैः ।
प्रसवसमीरैश्च तदा यः क्लेशः सोऽप्यनिर्वाच्यः ॥११॥

अथवा यदि ठीक-ठीक प्रसव भी हुआ तो जिस समय वह

प्रबल प्रसूतिवायुके द्वारा संकुचित योनिछिद्रसे बाहर निकाला जाता है उस समयका क्लेश भी अकथनीय होता है ।

आधिव्याधिवियोगात्मीयविपत्कलहदीर्घदारिद्र्यैः ।
जन्मानन्तरमपि यः क्लेशः किं शक्यते वक्तुम् ॥१२॥

जन्मके अनन्तर भी आधि, व्याधि, वियोग, स्वजनोंकी विपत्ति, कलह और बहुत समयतक रहनेवाली दरिद्रता आदिसे जितना दुःख उठाना पड़ता है क्या उसका वर्णन किया जा सकता है ?

नरपशुविहङ्गतिर्यग्योनीनां चतुरशीतिलक्षाणाम् ।
कर्मनिबद्धो जीवः परिभ्रमन्यातना भुङ्क्ते ॥१३॥

कर्मबन्धनसे बँधा हुआ जीव मनुष्य, पशु, पक्षी और तिर्यगादि चौरासी लाख योनियोंमें भ्रमता हुआ नाना प्रकारकी विपत्तियाँ झेलता है ।

चरमस्तत्र नृदेहस्तत्रोज्जन्मान्वयोत्पत्तिः ।
स्वकुलाचारविचारः श्रुतिप्रचारश्च तत्रापि ॥१४॥
आत्मानात्मविवेको नो देहस्य च विनाशिताज्ञानम् ।
एवं सति स्वमायुः प्राज्ञैरपि नीयते मिथ्या ॥१५॥

उन सब योनियोंमें मनुष्य-देह सर्वश्रेष्ठ है; उस नरदेहमें भी उच्च कुलमें जन्म, अपने कुटुम्बके आचार-विचार तथा श्रुतिज्ञानको

पाकर भी जिसको आत्मा और अनात्माका विवेक तथा देहकी विनाशशीलताका ज्ञान नहीं हुआ, वह भले ही बड़ा भारी बुद्धिमान् हो, उसकी आयु व्यर्थ ही जाती है।

आयुः क्षणलवमात्रं न लभ्यते हेमकोटिभिः क्वापि।
तच्चेद्गच्छति सर्वं मृषा ततः काधिका हानिः ॥१६॥

क्षण और पलभरकी आयु भी करोड़ों सुवर्ण-मुद्राओंके बदलेमें कभी नहीं मिल सकती। यदि ऐसी अमूल्य आयु व्यर्थ ही चली गयी तो इससे बढ़कर और क्या हानि होगी?

नरदेहातिक्रमणात्प्राप्तौ पश्वादिदेहानाम्।
स्वतनोरप्यज्ञाने परमार्थस्यात्र का वार्ता ॥१७॥

नर-देहके नष्ट हो जानेपर यदि पशु आदिकी योनि मिली तो उसमें तो भलीभाँति अपने शरीरकी भी सुधि नहीं रहती, परमार्थकी तो बात ही क्या है?

सततं प्रवाह्यमानैर्वृषभैरश्वैः खरैर्गजैर्महिषैः।
हा कष्टं क्षुत्क्षामैः श्रान्तैर्नो शक्यते वक्तुम् ॥१८॥

हा! वे क्षुधाक्षीण और थके होनेपर भी निरन्तर बोझा ढोनेवाले बैल, घोड़े, गधे, हाथी और भैंसे अपना कष्ट कुछ भी नहीं कह सकते।

रुधिरत्रिधातुमज्जामेदोमांसास्थिसंहतिर्देहः ।
स बहिस्त्वचा पिनद्धस्तस्मान्नो भक्ष्यते काकैः ॥१९॥

यह शरीर रुधिर, त्रिधातु (वात, पित्त, कफ), मज्जा, मेद, मांस और हड्डियोंका समूह है; बाहरसे यह त्वचासे मँढा हुआ है इसलिये इसे कौए भी नहीं खाते।

नासाग्राद्वदनाद्वा कफं मलं पायुतो विसृजन्।
स्वयमेवैति जुगुप्सामन्तः प्रसृतं च नो वेत्ति ॥२०॥

नासिकासे अथवा मुखसे कफको और गुदासे मलको त्याग करते समय मनुष्य स्वयं भी घृणा करता है तथापि इन्हें अपने शरीरके भीतर भरे हुए नहीं जानता।

पथि पतितमस्थि दृष्ट्वा स्पर्शभयादन्यमार्गतो याति।
नो पश्यति निजदेहं चास्थिसहस्रावृतं परितः ॥२१॥

मार्गमें पड़ी हुई हड्डीको देखकर वह उससे छू जानेके डरसे दूसरे मार्गसे निकल जाता है, परन्तु हजारों हड्डियोंसे भरे हुए अपने शरीरको नहीं देखता !

केशावधि नखराग्रादिदमन्तः पूतिगन्धसम्पूर्णम्।
बहिरपि चागरुचन्दनकर्पूराद्यैर्विलेपयति ॥२२॥

नखसे लेकर शिखापर्यन्त यह सारा शरीर दुर्गन्धसे भरा

हुआ है, फिर भी मनुष्य बाहरसे इसपर अगरु, चन्दन और कर्पूर आदिका लेप करता है !

यत्नादस्य पिधत्ते स्वाभाविकदोषसङ्घातम् ।
औपाधिकगुणनिवहं प्रकाशयञ्छ्लाघते मूढः ॥२३॥

मूढ पुरुष इसके स्वाभाविक दोषोंको यत्नपूर्वक छिपाता है, और औपाधिक (ऊपरी) गुणोंको प्रकट करता हुआ इसकी प्रशंसा करता है ।

क्षतमुत्पन्नं देहे यदि न प्रक्षाल्यते त्रिदिनम् ।
तत्रोत्पतन्ति बहवः कृमयो दुर्गन्धसङ्कीर्णाः ॥२४॥

शरीरमें कहीं थोड़ा-सा घाव हो जाय और उसको तीन दिन भी न धोया जाय तो दुर्गन्धके कारण उसमें बहुत-से कीड़े पड़ जाते हैं ।

यो देहः सुप्तोऽभूत्सुपुष्पशय्योपशोभिते तल्पे ।
सम्प्रति स रज्जुकाष्ठैर्नियन्त्रितः क्षिप्यते वह्नौ ॥२५॥

देखो, जो शरीर अति सुशोभित फूलोंकी सेजपर सुखपूर्वक सोया हुआ था वह अब रस्सी और काठसे जकड़ा जाकर अग्निमें फेंका जा रहा है !

सिंहासनोपविष्टं दृष्ट्वा यं मुदमवाप लोकोऽयम् ।
तं कालाकृष्टतनुं विलोक्य नेत्रे निमीलयति ॥२६॥

जिसे सिंहासनपर विराजमान देखकर लोग आनन्दित होते थे उसी पुरुषको आज कालके गालमें पड़ा देखकर वे नेत्र मूँद लेते हैं ।

एवंविधोऽतिमलिनो देहो यत्सत्तया चलति ।
तं विस्मृत्य परेशं वहत्यहंतामनित्येऽस्मिन् ॥२७॥

ऐसा महामलिन देह जिसकी सत्तासे चलता है उस परमात्माको भुलाकर इस अनित्य और अपवित्र देहमें लोग 'अहं-बुद्धि' करते हैं !

क्वात्मा सच्चिद्रूपः क्व मांसरुधिरास्थिनिर्मितो देहः ।
इति यो लज्जति धीमानितरशरीरं स किं मनुते ॥२८॥

'कहाँ तो सत्-चित्-स्वरूप आत्मा और कहाँ अस्थि, मांस और रुधिर आदिका बना हुआ यह अति घृणित देह ?' ऐसा विचारकर जो बुद्धिमान् लज्जित होता है, वह दूसरोंके देहोंको क्या समझेगा ? [उनसे अपना सम्बन्ध क्यों जोड़ेगा ?]

विषय-निन्दा

मूढः कुरुते विषयजकर्दमसम्मार्जनं मिथ्या ।
दुरदृष्टवृष्टिभिरसौ देहो गेहं पतत्येव ॥२९॥

अविचारी लोग विषयभोगजन्य मलिनता (अर्थात् रोगादि) का मार्जन वृथा ही करते हैं । आखिर दुर्भाग्यरूप वर्षासे एक दिन यह देहरूप घर गिर ही जाता है ।

भार्या रूपविहीना मनसः क्षोभाय जायते पुंसाम्।
अत्यन्तं रूपाढ्या सा परपुरुषैर्वशीक्रियते ॥२०॥

जो स्त्री कुरूपा होती है उससे तो पुरुषोंका चित्त कुढ़ा करता है और जो अत्यन्त रूपवती होती है वह परपुरुषोंके चंगुलमें फँस जाती है।

यः कश्चित्परपुरुषो मित्रं भृत्योऽथवा भिक्षुः।
पश्यति हि साभिलाषं विलक्षणोदाररूपवतीम् ॥२१॥

मित्र, सेवक अथवा भिक्षुक कोई भी परपुरुष क्यों न हो अति अद्भुत रूपवती स्त्रीको वह चाहभरी दृष्टिसे देखने ही लगता है।

यं कञ्चित्पुरुषवरं स्वभर्तुरतिसुन्दरं दृष्ट्वा।
मृगयति किं न मृगाक्षी मनसेव परस्त्रियं पुरुषः॥२२॥

जिस प्रकार पुरुष रूपवती स्त्रीकी ताकमें रहता है उसी प्रकार क्या मृगलोचना स्त्री अपने पतिसे अधिक रूपवान् पुरुषको देखकर उसे मन-ही-मन नहीं ढूँढ़ा करती ?

एवं सुरूपनार्या भर्ता कोपात्प्रतिक्षणं क्षीणः।
नो लभते सुखलेशं बलिमिव बलिभुग्बहुष्वेकः ॥२३॥

इस प्रकार रूपवती स्त्रीका पति क्षण-क्षणमें ईर्ष्यानलसे क्षीण होता हुआ जरा भी चैन नहीं पाता; जैसे बहुत-से कौवोंमें पड़ी हुई बलिको एक कौवा नहीं पा सकता।

वनिता नितान्तमज्ञा स्वाज्ञामुल्लङ्घ्य वर्तते यदि सा ।
शत्रोरप्यधिकतरा पराभिलाषिण्यसौ किमुत ॥३४॥

स्त्री अत्यन्त बुद्धिहीना होती है । वह यदि अपनी (पतिकी) आज्ञाका उल्लंघन करके चलने लगे तो शत्रुसे भी बढ़कर है; फिर उसके परपुरुषकी इच्छा करनेवाली होनेपर तो कहना ही क्या है ?

लोको नापुत्रस्यास्तीति श्रुत्यास्य कः प्रभाषितो लोकः ।
मुक्तिः संसरणं वा तदन्यलोकोऽथवा नाद्यः ॥३५॥
सर्वेऽपि पुत्रभाजस्तन्मुक्तौ नैव संसृतिर्भवति ।
श्रवणादयोऽप्युपाया मृषा भवेयुस्तृतीयेऽपि ॥३६॥
तत्प्राप्त्युपायसत्त्वाद्द्वितीयपक्षेऽप्यपुत्रस्य ।
पुत्रेष्ट्यादिकयागप्रवृत्तये वेदवादोऽयम् ॥३७॥

'नापुत्रस्य लोकोऽस्ति' (पुत्रहीनको शुभलोककी प्राप्ति नहीं हो सकती) इस श्रुतिमें 'लोक' शब्दसे क्या कहा गया है ? मुक्ति, संसार या इन दोनोंसे भिन्न कोई और लोक ? इनमें पहला पक्ष तो हो नहीं सकता, क्योंकि प्रायः सभी मनुष्य पुत्रवान् हैं; अतः उनकी मुक्ति हो जानेपर संसार ही नहीं रहेगा [—सारा जगत् शून्यप्राय हो जायगा] । इसके सिवा मुक्तिके साधक शास्त्र-श्रवणादि उपाय भी मिथ्या हो जायँगे । तीसरा पक्ष भी सम्भव नहीं है, क्योंकि उन (स्वर्गादि लोकों) की प्राप्तिके तो

अन्य (यज्ञादि) उपाय भी हैं। [अतः इन दो पक्षोंका निराकरण हो जानेसे इस शब्दका तात्पर्य दूसरे पक्ष (संसार) में ही है किन्तु इस] द्वितीय पक्षमें भी यह वेदवाक्य पुत्रहीन पुरुषोंकी पुत्रेष्टि आदि यज्ञोंमें प्रवृत्ति करानेके लिये ही है।

नानाशरीरकष्टैर्धनव्ययैः साध्यते पुत्रः।
उत्पन्नमात्रपुत्रे जीवितचिन्ता गरीयसी तस्य ॥३८॥

नाना प्रकारके शारीरिक कष्ट और धनादिके व्ययसे तो पुत्र उत्पन्न होता है और उत्पन्न होनेपर भी उसके जीवित रहनेकी बड़ी चिन्ता लगी रहती है।

जीवन्नपि किं मूर्खः प्राज्ञः किंवा सुशीलभाग्भविता।
जारश्चौरः पिशुनः पतितो द्यूतप्रियः क्रूरः ॥३९॥

जीवित रहनेपर भी न जाने वह मूर्ख, बुद्धिमान्, सुशील, जार, चोर, चुगलखोर, पतित, जुआरी या क्रूर कैसी प्रकृतिका निकले !

पितृमातृबन्धुघाती मनसः खेदाय जायते पुत्रः।
चिन्तयति ताननिधनं पुत्रो द्रव्याद्यधीशताहेतोः॥४०॥

माता, पिता और बन्धुओंका घात करनेवाला पुत्र सदैव उनके चित्तको दुःखित करनेवाला ही होता है। वह धन एवं

धरतीके आधिपत्यके लिये सदा अपने पिताके मरणका ही चिन्तन करता रहता है।

सर्वगुणैरुपपन्नः पुत्रः कस्यापि कुत्रचिद्भवति ।
सोऽल्पायू रुग्णो वा ह्यनपत्यो वा तथापि खेदाय॥४१॥

सर्व-गुण-सम्पन्न पुत्र तो कभी कहीं किसीके होता है; वह भी यदि अल्पायु, रोगी अथवा पुत्रहीन हुआ तो दुःखका ही कारण होता है।

पुत्रात्सद्गतिरिति चेत्तदपि प्रायोऽस्ति युक्त्यसहम् ।
इत्थं शरीरकष्टैर्दुःखं सम्प्रार्थ्यते मूढैः ॥४२॥

पुत्रसे सद्गति होती है—यह सर्वथा युक्ति-विरुद्ध है। [हम तो समझते हैं] इस प्रकार मूढलोग शारीरिक-कष्ट उठाकर दुःखोंको ही मोल लेते हैं।

पितृमातृबन्धुभगिनीपितृव्यजामातृमुख्यानाम् ।
मार्गस्थानामिव युतिरनेकयोनिभ्रमात्क्षणिका ॥४३॥

नाना योनियोंमें भ्रमण करते हुए पिता, माता, भाई, बहिन, पितृव्य और जामाता आदि सम्बन्धियोंका मेल मार्गमें ठहरे हुए पथिकोंके संयोगके समान क्षणभरके लिये ही होता है।

दैवं यावद्विपुलं यावत्प्रचुरः परोपकारश्च ।
तावत्सर्वे सुहृदो व्यत्ययतः शत्रवः सर्वे ॥४४॥

जबतक दैव अनुकूल रहता है और परोपकारकी अधिकता होती है तभीतक सब सगे-सम्बन्धी होते हैं, उनमें अन्तर पड़ा कि वे उलटे अपने शत्रु हो जाते हैं।

अश्नन्ति चेदनुदिनं वन्दिन इव वर्णयन्ति सन्तृप्ताः ।
तच्चेद्द्वित्रदिनान्तरमभिनिन्दन्तः प्रकुप्यन्ति ॥४५॥

यदि वे नित्यप्रति नाना प्रकारके पदार्थ खाते रहते हैं, तो खूब तृप्त होकर बन्दीजनकी भाँति बड़ाई करते हैं, उनमें यदि दो-तीन दिनका भी अन्तर पड़ जाय तो वे (प्रशंसा करनेवाले) ही कुपित होकर कुवाक्य कहने लगते हैं।

दुर्भरजठरनिमित्तं समुपार्जयितुं प्रवर्तते चित्तम् ।
लक्षावधि बहुवित्तं तथाप्यलभ्यं कपर्दिकामात्रम् ।४६।

इस दुर्भर (कठिनतासे भरे जाने योग्य) पेटके लिये चित्त लाखों रुपयेतक बहुत-सा धन कमानेको प्रवृत्त होता है, तथापि बिना प्रारब्धके एक कानी कौड़ी भी नहीं मिलती।

लब्धश्चेदधिकोऽर्थः पत्न्यादीनां भवेत्स्वार्थः ।
नृपचौरतोऽप्यनर्थस्तस्माद्द्रव्योद्यमो व्यर्थः ॥४७॥

यदि अधिक धन मिल भी जाय तो उससे स्त्री आदिका ही स्वार्थ-साधन होता है, तथा राजा और चोरोंसे भी अनर्थकी आशंका रहती है; इसलिये धनके लिये प्रयत्न करना व्यर्थ ही है।

अन्यायमर्थभाजां पश्यति भूपोऽध्वगामितां चौरः ।
पिशुनो व्यसनप्राप्तिं दायादानां गणः कलहम् ॥४८॥

राजा [द्रव्यहरणकी इच्छासे] धनी पुरुषोंके अन्यायकी ताकमें रहता है । चोर उसके मार्गमें जानेकी प्रतीक्षा किया करता है । दुष्ट पुरुष उसे विपत्तिमें पड़ा देखना चाहते हैं और उसके उत्तराधिकारियोंकी दृष्टि सदा कलहपर रहती है ।

पातकभरैरनेकैरर्थं समुपार्जयन्ति राजानः ।
अश्वमतङ्गजहेतोः प्रतिक्षणं नाश्यते सोऽर्थः ॥४९॥

राजालोग नाना प्रकारके पाप-कर्मोंसे धनको इकट्ठा करते हैं और फिर वह धन हाथी-घोड़ोंके लिये क्षण-क्षणमें नष्ट किया जाता है ।

राजान्तराभिगमनाद्रणभङ्गान्मन्त्रिभृत्यदोषाद्वा ।
विषशस्त्रगुप्तघातान्मग्नाश्चिन्तार्णवे भूपाः ॥५०॥

राजालोग अन्य राजाओंके आक्रमणसे, युद्धमें पराजयसे, मन्त्री और सेवकादिके षड्यन्त्रोंसे तथा विष अथवा शस्त्रोंके द्वारा गुप्त-घात आदिसे [शङ्कितचित्त रहकर] सदा ही चिन्तासागरमें डूबे रहते हैं ।

मनोनिन्दा

हसति कदाचिद्रौति भ्रान्तं सद्दशदिशो भ्रमति ।
हृष्टं कदापि रुष्टं शिष्टं दुष्टं च निन्दति स्तौति ॥५१॥
कमपि द्वेष्टि सरोषं ह्यात्मानं श्लाघते कदाचिदपि ।
चित्तं पिशाचमभवद्राक्षस्या तृष्णया व्याप्तम् ॥५२॥

इस तृष्णा-राक्षसीके अधीन होकर यह चित्त पिशाचरूप हो गया है । कभी हँसता है, कभी रोता है और कभी भ्रान्त-सा होकर दशों दिशाओंमें घूमने लगता है । [इसी प्रकार] कभी हर्षित होता है और कभी रुष्ट हो जाता है । [विवेकहीन हो जानेके कारण] यह भद्र पुरुषोंकी निन्दा करता है और दुष्टोंकी स्तुति करता है । तथा कभी तो किसीसे रोषपूर्वक द्वेष करने लगता है और कभी अपनी प्रशंसा करने लगता है ।

दम्भाभिमानलोभैः कामक्रोधोरुमत्सरैश्चेतः ।
आकृष्यते समन्ताच्छ्वभिरिव पतितास्थिकं मार्गे ।५३।

मार्गमें पड़ी हुई हड्डीको जिस प्रकार कुत्ते अपनी-अपनी ओर खींचते हैं उसी प्रकार यह चित्त दम्भ, अभिमान, लोभ, काम, क्रोध और मत्सरादिसे चारों ओरसे खींचा जा रहा है ।

तस्माच्छुद्धविरागो मनोऽभिलषितं त्यजेदर्थम् ।
तदनभिलषितं कुर्यान्निर्व्यापारं ततो भवति ॥५४॥

अतः शुद्ध वैराग्यका आश्रय लेकर जो पदार्थ मनको रुचिकर हों, उन्हें त्याग दे और जो बात उसे रुचिकर न हो वही करे, इससे चित्त निष्क्रिय हो जाता है।

विषयनिग्रह

संसृतिपारावारे ह्यगाधविषयोदकेन सम्पूर्णे।
नृशरीरमम्बुतरणं कर्मसमीरैरितस्ततश्चलति ॥५५॥

अगाध विषय-जलसे भरे हुए इस संसार-समुद्रमें नर-देहरूप एक नौका है, जो कर्म-वायुसे प्रेरित होकर इधर-उधर डगमगाती फिरती है।

छिद्रैर्नवभिरुपेतं जीवो नौकापतिर्महानलसः।
छिद्राणामनिरोधाज्जलपरिपूर्णं पतत्यधः सततम् ॥५६॥

यह नौका [इन्द्रिय-गोलकरूप] नौ छिद्रोंसे युक्त है, इसका स्वामी जीव अत्यन्त आलसी है। छिद्रोंके न रोकनेसे उसमें [विषय-रूप] जल भर जाता है और वह निरन्तर डूबती रहती है।

छिद्राणां तु निरोधात्सुखेन पारं परं याति।
तस्मादिन्द्रियनिग्रहमृते न कश्चित्तरत्यनृतम् ॥५७॥

इन छिद्रोंके रोक देनेसे यह सुखपूर्वक संसार-सागरके उस पार पहुँच सकती है, इसलिये इन्द्रिय-निग्रहके बिना इस मिथ्या प्रपञ्चको कोई पार नहीं कर सकता।

पश्यति परस्य युवतिं सकाममपि तन्मनोरथं कुरुते ।
ज्ञात्वैव तदप्राप्तिं व्यर्थं मनुजोऽतिपापभाग्भवति ॥५८॥

पुरुष परस्त्रीको कामवश देखता है और उसकी प्राप्तिकी कामना भी करता है । यद्यपि यह जानता है कि उसका मिलना सर्वथा असम्भव है तथापि [उसकी कामना करके] वह व्यर्थ घोर पापका भागी बन जाता है ।

पिशुनैःप्रकाममुदितां परस्य निन्दां शृणोति कर्णाभ्याम्
तेन परः किं म्रियते व्यर्थं मनुजोऽतिपापभाग्भवति५६

मनुष्य अपने कानोंसे चुगलखोरोंद्वारा मनमानी कही हुई परायी निन्दा सुनता रहता है; इससे क्या वह पुरुष [जिसकी निन्दा की जाती है] मर जाता है ? [उसका तो कुछ भी नहीं बिगड़ता] उलटे निन्दा सुननेवाला ही, घोर पापका भागी बन जाता है ।

अनृतं परापवादं रसना वदति प्रतिक्षणं तेन ।
परहानिर्लब्धिः का व्यर्थं मनुजोऽतिपापभाग्भवति ॥

जिह्वा क्षण-क्षणमें दूसरे पुरुषोंकी निन्दा और मिथ्याभाषण किया करती है, इससे दूसरोंकी क्या हानि अथवा [अपना क्या] लाभ हो सकता है ? निन्दक पुरुष ही व्यर्थ महापापका भागी हो जाता है ।

विषयेन्द्रिययोर्योगे निमेषसमयेन यत्सुखं भवति ।
विषये नष्टे दुःखं यावज्जीवं च तत्तयोर्मध्ये ॥६१॥
हेयमुपादेयं वा प्रविचार्य सुनिश्चितं तस्मात् ।
अल्पसुखस्य त्यागादनल्पदुःखं जहाति सुधीः ॥६२॥

विषय और इन्द्रियोंका संयोग होनेपर पुरुषको पलभरके लिये जो सुख होता है, विषयके नष्ट होनेपर वही यावज्जीवन दुःखरूप हो जाता है; अतः इन दोनोंमें त्याज्य और ग्राह्यका भलीभाँति विचार करके यह निश्चय हुआ कि यदि बुद्धिमान् पुरुष अल्प सुखकी वासना छोड़ दे तो वह बड़े भारी दुःखका अन्त कर देता है ।

धीवरदत्तमहामिषमश्नन्वैसारिणो म्रियते ।
तद्वद्विषयान्भुञ्जन्कालाकृष्टो नरः पतति ॥६३॥

धीवरद्वारा काँटेमें लगाकर डाले हुए थोड़े-से मांसको खानेसे मछलीको प्राण-त्याग करना पड़ता है, इसी प्रकार विषयोंका सेवन करता हुआ पुरुष कालके जालमें पड़कर नष्ट हो जाता है ।

उरगग्रस्तार्धतनुर्भेकोऽश्नातीह मक्षिकाः शतशः ।
एवं गतायुरपि सन्विषयान्समुपार्जयत्यन्धः ॥६४॥

सर्पके द्वारा आधा निगल लिये जानेपर भी मेंढक सैकड़ों मक्खियोंको खाता रहता है, इसी प्रकार तृष्णान्ध पुरुष अवस्थाके ढल जानेपर भी विषय-सेवन करता ही रहता है ।

मनोनिग्रह

स्वीयोद्गमतोयवहा सागरमुपयाति नीचमार्गेण ।
सा स्वीयोद्गम एव स्थिरा सती किं न याति वार्धित्वम् ॥

अपने उद्गम-स्थान (निकासकी जगह) से निकलकर नीचे मार्गसे बहनेवाली नदी समुद्रमें जा मिलती है, वह यदि उद्गम स्थानपर स्थिर रहती तो क्या बढ़कर स्वयं ही समुद्र न बन जाती ?

एवं मनः स्वहेतुं विचारयत्सुस्थिरं भवेदन्तः ।
न बहिर्वोदेति तदा किं नात्मत्वं स्वयं याति ॥६६॥

इसी प्रकार यदि मन भी अपने कारणका विचार करता हुआ अपने आपमें ही स्थिर हो जाय और बहिर्विषयोंमें न जाय तो क्या वह स्वयं ही आत्मा न हो जायगा ?

वर्षास्वम्भःप्रचयात्कूपे गुरुनिर्झरे पयः क्षारम् ।
ग्रीष्मेणैव तु शुष्के माधुर्यं भजति तत्राम्भः ॥६७॥

कूओं और बड़े-बड़े झरनोंमें वर्षाऋतुमें अधिक जल इकट्ठा हो जानेसे वह खारा हो जाता है, किन्तु ग्रीष्मऋतुमें सूखकर अल्प परिमाणमें रह जानेपर उनका जल मीठा हो जाता है !

तद्वद्विषयोद्रिक्तं तमःप्रधानं मनः कलुषम् ।
तस्मिन्विरागशुष्के शनकैराविर्भवेत्सत्त्वम् ॥६८॥

उसी प्रकार विषय-वासनाओंसे भरा हुआ चित्त तमोगुणी और पापमय होता है, उसीके वैराग्यरूपी अग्निसे सूख जानेपर उसमें धीरे-धीरे सत्त्वगुणका आविर्भाव हो जाता है ।

यं विषयमभिलषित्वा धावति बाह्येन्द्रियद्वारा ।
तस्याप्राप्तौ खिद्यति तथा यथा स्वं गतं किञ्चित् ॥६९॥

जिस विषयकी अभिलाषासे यह चित्त किसी बाह्येन्द्रिय-द्वारा दौड़ता है उसके न मिलनेपर ऐसा दुखी होता है मानो इसका कुछ खो गया हो !

नगनगरदुर्गदुर्गमसरितः परितः परिभ्रमच्चेतः ।
यदि नो लभते विषयं यन्त्रितमिव खिन्नतां याति ।७०।

अपने अभीष्ट विषयकी खोजमें पर्वत, नगर, दुर्ग और दुर्गम नदियोंमें सब ओर भटकता हुआ चित्त यदि उस विषयको नहीं पाता तो विवश-सा होकर खिन्न हो जाता है ।

तुम्बीफलं जलान्तर्बलादधः क्षिप्तमप्युपैत्यूर्ध्वम् ।
तद्वन्मनः स्वरूपे निहितं यत्नाद्बहिर्याति ॥७१॥

तूँबेको बड़े वेगसे भी जलमें फेंका जाय तो भी वह तुरन्त जलके ऊपर ही आ जाता है, इसी प्रकार अपने स्वरूपमें यत्न-पूर्वक लगानेपर भी चित्त पुनः-पुनः बाहर निकल जाता है ।

इह वा पूर्वभवे वा स्वकर्मणैवार्जितं फलं यद्यत् ।
शुभमशुभं वा तत्तद्भोगोऽप्यप्रार्थितो भवति ॥७२॥

इस जन्मके अथवा पूर्वजन्मके कर्मोंसे उपार्जित जैसे-जैसे शुभ अथवा अशुभ फल होने होते हैं, उनके भोग भी बिना माँगे उपस्थित हो जाते हैं ।

चेतःपशुमशुभपथं प्रधावमानं निराकर्तुम् ।
वैराग्यमेकमुचितं गलकाष्ठं निर्मितं धात्रा ॥७३॥

कुमार्गकी ओर दौड़ते हुए चित्तरूपी पशुको रोकनेके लिये विधाताने एकमात्र वैराग्यको ही गलेका उचित काष्ठ बनाया ।

निद्रावसरे यत्सुखमेतत्किं विषयजं यस्मात् ।
न हि चेन्द्रियप्रदेशावस्थानं चेतसो निद्रा ॥७४॥

निद्राके समय जो सुख होता है क्या वह विषयजन्य होता है ? कदापि नहीं, क्योंकि चित्तका इन्द्रिय-गोलकोंमें न रहना ही तो निद्रा है ।

अद्वारतुङ्गकुड्ये गृहेऽवरुद्धो यथा व्याघ्रः ।
बहुनिर्गमप्रयत्नैः श्रान्तस्तिष्ठति पतञ्ङ्कसंश्च तथा ॥
सर्वेन्द्रियावरोधादुद्योगशतैरनिर्गमं वीक्ष्य ।
शान्तं तिष्ठति चेतो निरुद्यमत्वं तदा याति ॥७६॥

बिना द्वारके ऊँचे परकोटेवाले घरमें बन्द किया हुआ सिंह बाहर निकलनेके बहुत-से प्रयत्न करनेपर अन्तमें थककर लम्बे-लम्बे श्वास लेता हुआ जैसे पड़ रहता है, उसी प्रकार समस्त इन्द्रियोंके रोक देनेपर सैकड़ों उपायोंसे भी बाहर निकलना असम्भव जानकर चित्त शान्त होकर स्थिर हो जाता है और फिर घूम-धाम नहीं करता।

प्राणस्पन्दनिरोधात्सत्सङ्गाद्वासनात्यागात् ।
हरिचरणभक्तियोगान्मनः स्ववेगं जहाति शनैः ॥७७॥

प्राण-स्पन्दनके रोक देनेसे, सत्संगसे, वासनाओंके त्यागसे और भगवच्चरणारविन्दोंकी भक्तिसे मन धीरे-धीरे अपने वेगको छोड़ देता है।

वैराग्य

परगृहगृहिणीपुत्रद्रविणानामागमे विनाशे वा ।
प्रथितौ हर्षविषादौ किं वा स्यातां क्षणं स्थातुः ॥७८॥

दूसरेके गृह, स्त्री, पुत्र और धनादिके आने-जानेसे होनेवाले हर्ष या विषाद क्या वहाँ क्षणभर ठहरनेवाले पुरुषको हो सकते हैं?

दैवात्स्थितं गतं वा यं कश्चिद्विषयमीड्यमल्पं वा ।
नो तुष्यन्न च सीदन्वीक्ष्य गृहेष्वतिथिवन्निवसेत् ॥७९॥

इसी प्रकार मुमुक्षु पुरुषको चाहिये कि घरमें अतिथिके समान रहे; किसी भी स्तुत्य अथवा तुच्छविषयको दैववश स्थित अथवा गया हुआ देखकर न तो सन्तुष्ट ही हो और न दुःख ही माने।

ममताभिमानशून्यो विषयेषु पराङ्मुखः पुरुषः।
तिष्ठन्नपि निजसदने न बाध्यते कर्मभिः क्वापि ॥८०॥

अपनेपनके अभिमानसे शून्य तथा विषयोंसे विमुख रहनेवाला पुरुष अपने घरमें रहता हुआ भी कभी किसी कर्ममें आसक्त नहीं होता।

कुत्राप्यरण्यदेशे सुनीलतृणवालुकोपचिते।
शीतलतरुतलभूमौ सुखं शयानस्य पुरुषस्य ॥८१॥
तरवः पत्रफलाढ्याः सुगन्धशीतानिलाः परितः।
कलकूजितवरविहगाः सरितो मित्राणि किं न स्युः॥८२॥

हरी-भरी घास और सुकोमल श्वेत बालुकासे ढँके हुए किसी वन्य-प्रदेशमें वृक्षकी शीतल छायामें सुखपूर्वक सोते हुए पुरुषके फल-दलसे युक्त वृक्ष, मन्द सुगन्ध शीतल वायु, सब ओर सुन्दर कलरव करते हुए पक्षी और नदियाँ भी क्या मित्र नहीं बन जाते ! [अर्थात् क्या इन सबसे उसका चित्त नहीं बहल जाता !]

वैराग्यभाग्यभाजः प्रसन्नमनसो निराशस्य।
अप्रार्थितफलभोक्तुः पुंसो जन्मनि कृतार्थतेह स्यात्॥

संसारमें वैराग्यरूपी सौभाग्यके पात्र, प्रसन्नचित्त, विषयाशा-हीन और यथा-प्राप्त प्रारब्ध-फल भोगनेवाले पुरुषको इसी जन्ममें कृतार्थता प्राप्त हो जाती है ।

द्रव्यं पाणितलाच्च्युतं यदि भवेत्कापि प्रमादात्तदा
शोकायाथ तदर्पितं श्रुतवते तोषाय च श्रेयसे ।
स्वातन्त्र्याद्विषयाः प्रयान्ति यदमी शोकाय ते स्युश्चिरं
सन्त्यक्ताः स्वयमेव चेत्सुखमयं निःश्रेयसं तन्वते ॥८४॥

जिस प्रकार असावधानतावश हाथसे गिरा हुआ पदार्थ तो शोकका कारण होता है, किन्तु यदि उसे किसी श्रोत्रिय ब्राह्मणको श्रद्धापूर्वक दिया जाय तो वही सन्तोष और शुभ गतिका देने-वाला हो जाता है, उसी प्रकार यदि विषय अपने आप छूटते हैं तब तो बहुत दिनोंतक खटकते रहते हैं; किन्तु यदि उन्हें अपनी इच्छासे छोड़ा जाय तो वे सुख और कल्याणके देनेवाले हो जाते हैं।

विस्मृत्यात्मनिवासमुत्कटभवाटव्यां चिरं पर्यट-
न्सन्तापत्रयदीर्घदावदहनज्वालावलीव्याकुलः ।
वल्गन्फल्गुषु सुप्रदीप्तनयनश्चेतःकुरङ्गो बला-
दाशापाशवशीकृतोऽपि विषयव्याघ्रैर्मृषा हन्यते॥८५॥

अपने निवासस्थानको भूलकर चिरकालतक इस भयङ्कर संसार-वनमें भटकता और तापत्रयरूपी प्रचण्ड दावानलकी ज्वाला-

मालाओंसे व्याकुल होकर तुच्छ विषयोंके लिये उछलता-कूदता यह चमकीली आँखोंवाला चित्तरूपी हरिण आशा-पाशमें पड़ा हुआ ही विषयरूपी व्याघ्रोंद्वारा बेमौत मारा जाता है ।

आत्मसिद्धि

उत्पन्नेऽपि विरागे विना प्रबोधं सुखं न स्यात् ।
स भवेद्गुरूपदेशात्तस्माद्गुरुमाश्रयेत्प्रथमम् ॥८६॥

वैराग्य हो जानेपर भी बिना बोधके आनन्दकी प्राप्ति नहीं होती, बोध गुरुके उपदेशसे ही होता है, अतः सबसे पहले गुरु-देवकी शरणमें जाय ।

यद्यपि जलधेरुदकं यद्यपि वा प्रेरकोऽनिलस्तत्र ।
तदपि पिपासाकुलितः प्रतीक्षते चातको मेघम् ॥८७॥

यद्यपि [मेघमें रहनेवाला] समुद्रका जल सामने भरा पड़ा है, और उसे ऊपर उड़ानेवाला प्रेरक वायु भी वहाँ है परन्तु प्याससे तड़पता हुआ चातक मेघकी ही प्रतीक्षा करता है [इसी प्रकार ब्रह्म सर्वत्र विराजमान है तथापि जिज्ञासुको उसका ज्ञान गुरुके द्वारा ही होता है]।

त्रेधा प्रतीतिरुक्ता शास्त्राद्गुरुतस्तथात्मनस्तत्र ।
शास्त्रप्रतीतिरादौ यद्वन्मधुरो गुडोऽस्तीति ॥८८॥

आत्माकी प्रतीति शास्त्र, गुरु और अपना अन्तःकरण इन तीन साधनोंसे होती बतलायी जाती है। उनमें प्रथम प्रतीति शास्त्रद्वारा होती है, जैसे पहले लोगोंसे सुनकर यह ज्ञान होता है कि 'गुड़ मीठा होता है'।

अग्रे गुरुप्रतीतिर्दूराद्गुडदर्शनं यद्वत्।
आत्मप्रतीतिरस्माद्गुडभक्षणजं सुखं यद्वत् ॥८९॥

तदुपरान्त गुड़को दूरसे देख लेनेके समान दूसरी प्रतीति गुरुद्वारा होती है और गुडास्वादके सुखके समान अन्तिम प्रतीति अन्तःकरणद्वारा [उसका अनुभव कर लेनेपर] होती है।

रसगन्धरूपशब्दस्पर्शा अन्ये पदार्थाश्च।
कस्मादनुभूयन्ते नो देहान्नेन्द्रियग्रामात् ॥९०॥

रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द तथा अन्यान्य पदार्थ किसके द्वारा अनुभव किये जाते हैं? देह या इन्द्रियोंद्वारा तो इनका अनुभव हो नहीं सकता।

मृतदेहेन्द्रियवर्गो यतो न जानाति दाहजं दुःखम्।
प्राणश्चेन्निद्रायां तस्करबाधां स किं वेत्ति ॥९१॥

क्योंकि मरे हुए प्राणीके देह और इन्द्रियाँ दाह-जन्य दुःखका अनुभव नहीं करते। यदि कहा जाय कि प्राण ही इनका अनुभव करता है, तो सो जानेपर क्या उसे चोर आदिसे होनेवाली हानिका ज्ञान होता है?

मनसो यदि वा विषयस्तद्युगपत्किं न जानाति ।
तस्य पराधीनत्वाद्यतः प्रमादस्य कस्त्राता ॥९२॥

यदि इन्हें मनका विषय कहें तो वह सबका एक साथ ही अनुभव क्यों नहीं कर लेता ? वास्तवमें वह तो पराधीन है क्योंकि यदि उसे स्वतन्त्र माना जाय तो उसको प्रमादसे कौन बचा सकता था ?

गाढध्वान्तगृहान्ततः क्षितितले दीपं निधायोज्ज्वलं
पञ्चच्छिद्रमधोमुखं हि कलशं तस्योपरि स्थापयेत् ।
तद्बाह्ये परितोऽनुरन्ध्रममलां वीणां च कस्तूरिकां
सद्रत्नं व्यजनं न्यसेच्च कलशच्छिद्राध्वनिर्गच्छता ॥
तेजोंऽशेन पृथक्पदार्थनिवहज्ञानं हि यज्जायते
तद्रन्ध्रैः कलशेन वा किमु मृदो भाण्डेन तैलेन वा ।
किं सूत्रेण न चैतदस्ति रुचिरं प्रत्यक्षबाधादतो
दीपज्योतिरिहैकमेव शरणं देहे तथात्मा स्थितः ॥९४॥

एक गाढ़ अन्धकारमय घरके भीतर पृथ्वीपर एक स्फुट-प्रकाशमय दीपक रक्खे, उसके ऊपर एक पाँच छिद्रोंवाला घड़ा नीचेको मुख करके स्थापित करे । उसके बाहर प्रत्येक छिद्रके सामने क्रमशः सुन्दर वीणा, कस्तूरी, रत्न और पङ्खा रक्खे ।

अब उस कलशके छिद्रोंसे बाहर निकलनेवाले तेजके अंशोंसे जो उन विविध पदार्थोंका पृथक्-पृथक् ज्ञान होता है वह किससे होता है? छिद्रोंसे, कलशसे, मृत्तिकासे, पात्रसे, तैलसे या बत्तीसे? प्रत्यक्ष-विरुद्ध होनेके कारण इनमेंसे किसीसे भी कहना ठीक न होगा; अतः इन पदार्थोंके ज्ञानमें तो एकमात्र दीपकका प्रकाश ही शरण (कारण) है, इसी प्रकार शरीरमें भी प्रत्येक ज्ञानका आधार आत्मा ही है।

मायासिद्धि

चिन्मात्रः परमात्मा ह्यपश्यदात्मानमात्मतया।
अभवत्सोऽहंनामा तस्मादासीद्भिदो मूलम्॥९५॥

चिन्मात्र परमात्माने ही प्रथम अपने आपको आपरूपसे देखा। तब उसका नाम 'अहंकार' हुआ। उसीसे भेदकी नीव पड़ी।

द्वेधैव भाति तस्मात्पतिश्च पत्नी च तौ भवेतां वै।
तस्मादयमाकाशः स्त्रियैव परिपूर्यते सततम्॥९६॥
सेयमपीक्षाञ्चक्रे ततो मनुष्या अजायन्त।
इत्युपनिषदः प्राहुर्बृहदारण्यके याज्ञवल्क्योक्त्या।९७।

बृहदारण्यक शाखामें याज्ञवल्क्यकी उक्तिद्वारा उपनिषद् ऐसा कहती है कि इस प्रकार वह दो-सा प्रतीत होने लगता है, और उससे पति और पत्नीका आविर्भाव हो जाता है। तब यह

आकाश (आकाशके समान शून्यप्राय पुरुष) सर्वदा स्त्रीके द्वारा ही पूर्ण होता है । उस स्त्रीने ईक्षण किया और तब उससे मनुष्योंकी उत्पत्ति हुई । *

चिरमानन्दानुभवात्सुषुप्तिरिव काप्यवस्थाभूत् ।
परमात्मनस्तु तस्मात्स्वप्नवदेवोत्थिता माया ॥९८॥

चिरकालीन आनन्दका अनुभव करते-करते परमात्माकी सुषुप्तिके समान कोई अवस्था हो गयी थी । उसीसे स्वप्नके समान मायाका आविर्भाव हुआ ।

सदसद्विलक्षणासौ परमात्मसदाश्रयानादिः ।
सा च गुणत्रयरूपा सूते सचराचरं विश्वम् ॥९९॥

यह माया सत् और असत्से विलक्षण है, अनादि है और सदैव परमात्माके आश्रय रहनेवाली है । यह त्रिगुणात्मिका माया ही चराचर जगत्को उत्पन्न करती है ।

---

* इस श्लोकमें भगवान् शङ्कराचार्यने बृहदारण्यक उपनिषद्की इस श्रुतिका अभिप्राय ही अभिव्यक्त किया है—

'स वै नैव रेमे तस्मादेकाकी न रमते स द्वितीयमैच्छत् । स हैतावानास यथा स्त्रीपुमांसौ संपरिष्वक्तौ स इममेवात्मानं द्वेधापातयत्ततः पतिश्च पत्नी चाभवतां तस्मादिदमर्धबृगलमिव स्व इति ह स्माह याज्ञवल्क्यस्तस्मादयमाकाशः स्त्रिया पूर्यत एव तां समभवत्ततो मनुष्या अजायन्त ॥'
(बृह० १।४।३)

माया तावददृश्या दृश्यं कार्यं कथं जनयेत् ।
तन्तुभिरदृश्यरूपैः पटोऽत्र दृश्यः कथं भवति ॥१००॥

यदि कहें कि माया तो अव्यक्त है वह इस व्यक्त प्रपञ्चको कैसे उत्पन्न कर सकती है ? तो यह बताओ कि अदृश्यरूप सूक्ष्म तन्तुओंसे दृश्य (स्थूल) पट कैसे उत्पन्न हो जाता है ? -

स्वप्ने सुरतानुभवाच्छुक्रद्रावो यथा शुभे वसने ।
अनृतं रतं प्रबोधे वसनोपहतिर्भवेत्सत्या ॥१०१॥
स्वप्ने पुरुषः सत्यो योषिदसत्या तयोर्युतिश्च मृषा ।
शुक्रद्रावः सत्यस्तद्वत्प्रकृतेऽपि सम्भवति ॥१०२॥

स्वप्नमें स्त्री-सम्भोगका अनुभव होनेसे जिस प्रकार शुद्ध वस्त्रमें ही वीर्यपात हो जाता है [उसी प्रकार अव्यक्त प्रकृतिसे व्यक्त जगत् हो जाता है] जग जानेपर स्वप्नका रमण तो मिथ्या हो जाता है, किन्तु उससे वस्त्र सचमुच बिगड़ जाता है; स्वप्नावस्थामें भी पुरुष तो सत्य ही होता है किन्तु स्त्री असत्य और उन दोनोंका संयोग भी मिथ्या ही होता है, फिर भी वीर्यपात सत्य ही हो जाता है । इसी प्रकार प्रस्तुत विषय (अदृश्य मायासे दृश्य प्रपञ्चके उत्पन्न होने) में भी हो सकता है ।

एवमदृश्या माया तत्कार्यं जगदिदं दृश्यम् ।
माया तावदियं स्याद्या स्वविनाशेन हर्षदा भवति ॥

इसी प्रकार माया तो अदृश्य है किन्तु उसका कार्य यह जगत् दृश्यरूप है, और माया तो यही है कि वह अपने नाशसे ही आनन्द देनेवाली होती है।

रजनीवातिदुरन्ता न लक्ष्यतेऽत्र स्वभावोऽस्याः ।
सौदामनीव नश्यति मुनिभिः सम्प्रेक्ष्यमाणैव ॥१०४॥

यह अन्धकारमयी रात्रिके समान दुरन्त है, इसके स्वभावका कुछ पता ही नहीं चलता; क्योंकि मुनिजनोंद्वारा विचारपूर्वक देखी जाते ही यह बिजलीके समान तुरन्त नष्ट हो जाती है।

माया ब्रह्मोपगताविद्या जीवाश्रया प्रोक्ता ।
चिदचिद्ग्रन्थिश्चेतस्तदक्षयं ज्ञेयमामोक्षात् ॥१०५॥

यह ब्रह्मके अधीन होनेसे 'माया' और जीवके आश्रित होनेसे 'अविद्या' कही जाती है। यह जड और चेतनकी ग्रन्थि ही 'चित्त' है। इसे जबतक मोक्ष न हो, अक्षय ही जानना चाहिये।

घटमठकुड्यैरावृतमाकाशं तत्तदाह्वयं भवति ।
तद्वदविद्यावृतमिह चैतन्यं जीव इत्युक्तः ॥१०६॥

घट, मठ और भित्ति आदि उपाधियोंसे आवृत आकाश भी घटाकाश, मठाकाश आदि तदनुकूल नामवाला हो जाता है, उसी प्रकार अविद्यासे आवृत शुद्ध, चेतन ही जीव कहलाता है।

ननु कथमावरणं स्यादज्ञानं ब्रह्मणो विशुद्धस्य ।
सूर्यस्येव तमिस्रं रात्रिभवं स्वप्रकाशस्य ॥१०७॥

शंका—अज्ञान विशुद्ध ब्रह्मका आवरण किस प्रकार कर सकता है ? रात्रिका अन्धकार भी क्या स्वयंप्रकाश सूर्यको ढक सकता है ?

दिनकरकिरणोत्पन्नैर्मेघैराच्छाद्यते यथा सूर्यः ।
न खलु दिनस्य दिनत्वं तैर्विकृतं सान्द्रसङ्घातैः।१०८।
अज्ञानेन तथात्मा शुद्धोऽपिच्छाद्यते सुचिरम् ।
न परन्तु लोकसिद्धा प्राणिषु तच्चेतनाशक्तिः ॥१०९॥

समाधान—जिस प्रकार सूर्य अपनी ही किरणोंसे उत्पन्न हुए मेघोंसे ढक जाता है किन्तु उस मेघ-समूहसे दिनके दिनत्वमें कोई विकार नहीं होता, उसी प्रकार शुद्ध आत्मा भी चिरकालतक अज्ञानसे आवृत तो रहता है, परन्तु प्राणियोंमें जो लोक-प्रसिद्ध चेतनाशक्ति है उसका आच्छादन नहीं होता ।

लिङ्गदेहादि-निरूपण

स्थूलशरीरस्यान्तर्लिङ्गशरीरं च तस्यान्तः ।
कारणमस्याप्यन्तस्ततो महाकारणं तुर्यम् ॥११०॥

स्थूल शरीरके भीतर लिङ्गदेह है, उसके भीतर कारणशरीर है और उसके भी भीतर महाकारण नामक तुरीय आत्मा है ।

स्थूलं निरूपितं प्रागधुना सूक्ष्मादितो ब्रूमः ।
अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषः श्रुतिरिति यत्प्राह तत्सूक्ष्मम् ।१११।

स्थूल शरीरका तो पहले निरूपण हो चुका, अब सूक्ष्मादिका वर्णन करते हैं । जिसको श्रुतिने 'अंगुष्ठमात्र पुरुष' कहा है वही यह सूक्ष्म शरीर है ।

सूक्ष्माणि महाभूतान्यसवः पञ्चेन्द्रियाणि पञ्चैव ।
षोडशमन्तःकरणं तत्सङ्घातो हि लिङ्गतनुः ॥११२॥

पाँच सूक्ष्म महाभूत, पाँच प्राण, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और सोलहवाँ अन्तःकरण—इन तत्त्वोंके समूहका नाम ही 'सूक्ष्म शरीर' है ।

तत्कारणं स्मृतं यत्तस्यान्तर्वासनाजालम् ।
तस्य प्रवृत्तिहेतुर्बुद्ध्याश्रयमत्र तुर्यं स्यात् ॥११३॥

उस लिंगदेहके अन्दर जो वासनाओंका समूह है वही 'कारण-शरीर' कहलाता है । उसकी भी प्रवृत्तियोंके कारण और बुद्धिके आश्रयको 'तुर्य' (महाकारण) समझना चाहिये ।

तत्सारभूतबुद्धौ यत्प्रतिफलितं तु शुद्धचैतन्यम् ।
जीवः स उक्त आचैर्योऽहमिति स्फूर्तिकृद्वपुषि ॥११४॥

लिंगदेहकी साररूपा बुद्धिमें प्रतिबिम्बित जो शुद्ध चैतन्य है उसीको पूर्वाचार्योंने जीव कहा है, जिसके कारण शरीरमें 'मैं' इस प्रकारकी स्फूर्ति होती है ।

चलतरतरङ्गसङ्गात्प्रतिबिम्बं भास्करस्य च चलं स्यात् ।
अस्ति तथा चञ्चलता चैतन्ये चित्तचाञ्चल्यात्॥११५॥

जिस प्रकार अति चञ्चल तरंगोंके कारण सूर्यका प्रतिबिम्ब भी चञ्चल प्रतीत होता है, उसी प्रकार चित्तकी चञ्चलतासे चैतन्यमें भी चञ्चलता प्रतीत होती है ।

नन्वर्कप्रतिबिम्बः सलिलादिषु यः स चावभासयति ।
किमितरपदार्थनिवहं प्रतिबिम्बोऽप्यात्मनस्तद्वत् ११६

शंका—जलमें पड़ा हुआ सूर्यका प्रतिबिम्ब तो अन्यान्य पदार्थोंको प्रकाशित करता है, क्या आत्म-प्रतिबिम्ब भी उसीके समान दूसरे पदार्थोंको प्रकाशित किया करता है ?

प्रतिफलितं यत्तेजः सवितुः कांस्यादिपात्रेषु ।
तदनुप्रविष्टमन्तर्गृहमन्यार्थान्प्रकाशयति ॥११७॥
चित्प्रतिबिम्बस्तद्वद्बुद्धिषु यो जीवतां प्राप्तः ।
नेत्रादीन्द्रियमार्गैर्बहिरर्थान् सोऽवभासयति ॥११८॥

समाधान—काँसी आदिके पात्रोंमें जो सूर्यका तेज प्रतिबिम्बित होता है, वह घरके भीतर प्रवेश कर अन्य पदार्थोंको प्रकाशित किया करता है, उसी प्रकार बुद्धिमें पड़ा हुआ चेतनका प्रतिबिम्ब जो जीव-भावको प्राप्त हुआ है वह नेत्रादि इन्द्रियोंके द्वारा बाह्य पदार्थोंको प्रकाशित करता है ।

अद्वैत

तदिदं य एवमार्यो वेद ब्रह्माहमस्मीति ।
स इदं सर्वं च स्यात्तस्य हि देवाश्च नेशतेऽभूत्यै ॥११९॥
एषां स भवत्यात्मा योऽन्यामथ देवतामुपास्तेऽन्यः ।
अहमन्योऽसावन्यश्चेत्थं नो वेद पशुवत्सः ॥१२०॥
इत्युपनिषदामुक्तिस्तथा श्रुतिर्भगवदुक्तिश्च ।
ज्ञानी त्वात्मैवेयं मतिर्ममेत्यत्र युक्तिरपि ॥१२१॥

'वह ब्रह्म मैं हूँ' जो भद्र पुरुष ऐसा जानता है वह यह सम्पूर्ण विश्वरूप हो जाता है, उसका पराभव (ब्रह्मात्मभावसे पतन) करनेमें देवगण भी समर्थ नहीं होते, क्योंकि वह उनका भी आत्मा हो जाता है । तथा जो आत्मासे भिन्न किसी और देवकी उपासना करता है और यह समझता है कि 'मैं अन्य हूँ और यह उपास्यदेव अन्य है, उसे आत्मज्ञान नहीं है, वह पशुके समान है'—ऐसी उपनिषद् तथा श्रुतिकी उक्ति है; तथा भगवान्‌ने भी

कहा है कि 'ज्ञानी तो मेरा आत्मा ही है, ऐसा मेरा मत है।' इसके अतिरिक्त इस विषयमें यह युक्ति भी है—

ऋजु वक्रं वा काष्ठं हुताशदग्धं सदग्नितां याति।
तत्किं हस्तग्राह्यं ऋजुवक्राकारसत्त्वेऽपि ॥१२२॥

अग्निसे दग्ध हो जानेपर टेढ़ी या सीधी जैसी भी लकड़ी हो, अग्निरूप हो जाती है; उसमें सीधा या टेढ़ा आकार रहता भी है तथापि क्या उसे हाथसे छू सकते हैं ?

एवं य आत्मनिष्ठो ह्यात्माकारश्च जायते पुरुषः।
देहीव दृश्यतेऽसौ परं त्वसौ केवलो ह्यात्मा ॥१२३॥

इसी प्रकार आत्मनिष्ठ पुरुष भी आत्माकार हो जाता है; वह देही-सा प्रतीत तो होता है तथापि होता शुद्ध आत्मामात्र ही है।

प्रतिफलति भानुरेकोऽनेकशरावोदकेषु यथा।
तद्वदसौ परमात्मा ह्येकोऽनेकेषु देहेषु ॥१२४॥

जिस प्रकार जलके अनेक शकोरोंमें एक ही सूर्यका प्रतिबिम्ब पड़ता है उसी प्रकार यह एक ही परमात्मा अनेक देहोंमें भास रहा है।

दैवादेकशरावे भग्ने किं वा विलीयते सूर्यः।
प्रतिबिम्बचञ्चलत्वादर्कः किं चञ्चलो भवति ॥१२५॥

दैवयोगसे यदि एक शकोरा टूट जाय तो क्या उससे सूर्य-का लय हो जाता है ? जलकी चञ्चलताके कारण प्रतिबिम्बके चलायमान होनेसे क्या सूर्य भी चञ्चल हो जाता है ?

स्वव्यापारं कुरुते यथैकसवितुः प्रकाशेन ।
तद्वच्चराचरमिदं ह्येकात्मसत्तया चलति ॥१२६॥

यह चराचर जगत् जैसे एक ही सूर्यके प्रकाशमें अपने समस्त कार्य करता है, उसी प्रकार यह एक ही आत्माकी सत्तासे गतिशील हो रहा है ।

येनोदकेन कदलीचम्पकजात्यादयः प्रवर्धन्ते ।
मूलकपलाण्डुलशुनास्तेनैवैते विभिन्नरसगन्धाः ।१२७।

जिस जलसे केला, चम्पा और जाति आदिके पौधे बढ़ते हैं, उसीसे सर्वथा भिन्न रस और गन्धवाले मूली, प्याज और लहसुन आदि भी पोषित होते हैं ।

एको हि सूत्रधारः काष्ठप्रकृतीरनेकशो युगपत् ।
स्तम्भाग्रपट्टिकायां नर्तयतीह प्रगूढतया ॥१२८॥

एक ही सूत्रधार स्वयं छिपा रहकर काष्ठकी अनेक पुतलियों-को स्तम्भके अग्रपटपर एक साथ नचाता रहता है ।

गुडखण्डशर्कराद्या भिन्नाः स्युर्विकृतयो यथैकेक्षोः ।
केयूरकङ्कणाद्या यथैकहेम्नो भिदाश्च पृथक् ॥१२९॥
एवं पृथक्स्वभावं पृथगाकारं पृथग्वृत्ति ।
जगदुच्चावचमुच्चैरेकेनैवात्मना चलति ॥१३०॥

जिस प्रकार एक ही ईखके गुड़, खाँड़ और शक्कर आदि नाना प्रकारके विकार होते हैं, तथा एक ही सुवर्णके कङ्कण, केयूर आदि पृथक्-पृथक् अनेक भेद होते हैं, उसी प्रकार भिन्न-भिन्न स्वभाव, आकार और आचरणवाला उच्च और नीच जगत् एक ही आत्माकी सत्तासे प्रवृत्त हो रहा है ।

स्कन्धधृतसिद्धमन्नं यावन्नाश्नाति मार्गगस्तावत् ।
स्पर्शभयक्षुत्पीडे तस्मिन्भुक्ते न ते भवतः ॥१३१॥

मार्गमें जानेवाला पुरुष, जबतक कन्धेपर रक्खे हुए बने-बनाये भोजनको नहीं खाता, तभीतक उसके छूनेका भय और क्षुधाकी पीडा रहती है; उसको खा लेनेपर कोई भी खटका नहीं रहता ।

मानुषमातङ्गमहिषश्वसूकरादिष्वनुस्यूतम् ।
यः पश्यति जगदीशं स एव भुङ्क्तेऽद्वयानन्दम् ॥१३२॥

जो पुरुष हाथी, भैंसे, कुत्ते और शूकर आदिमें एक ही जगदीश्वरको व्याप्त देखता है, वही अद्वैतानन्दका भोग करता है ।

कर्तृत्व-भोक्तृत्व

यद्वत्सूर्येऽभ्युदिते स्वव्यवहारं जनः कुरुते ।
तं न करोति विवस्वान्न कारयति तद्वदात्मापि ॥१३३॥

सूर्यके उदय होनेपर जैसे मनुष्य ही अपने-अपने कार्योंको करते हैं, सूर्य कुछ भी नहीं करता-कराता, वैसे ही आत्मा भी न कुछ करता है, न कराता है ।

लोहे हुतभुग्व्याप्ते लोहान्तरताड्यमानेऽपि ।
तस्यान्तर्गतवह्नेः किं स्यान्निर्घातजं दुःखम् ॥१३४॥

अग्निसे व्याप्त हुए लोहेको दूसरे लोहेसे पीटनेपर क्या उसके भीतर स्थित अग्निको भी कोई चोट लगती है ?

निष्ठुरकुठारघातैः काष्ठे सञ्छिद्यमानेऽपि ।
अन्तर्वर्ती वह्निः किं घातैश्छिद्यते तद्वत् ॥१३५॥

कठोर कुठारसे काठको काटनेपर क्या उसके घात-प्रतिघातसे काष्ठके भीतर रहनेवाला अग्नि भी कट जाता है ?

तनुसम्बन्धाज्जातैः सुखदुःखैर्लिप्यते नात्मा ।
ब्रूते श्रुतिरपि भूयोऽनश्नन्नन्योऽभिचाकशीत्यादि ।१३६।

इसी प्रकार शरीर-सम्बन्धसे प्राप्त हुए सुख-दुःखोंसे आत्मा लिप्त नहीं होता । इस विषयमें श्रुति भी बारम्बार कहती

है कि 'अन्य (आत्मा) तो कर्म-फलको न भोगता हुआ केवल साक्षी-भावसे देखा ही करता है ।'

निशि वेश्मनि प्रदीपे दीप्यति चौरस्तु वित्तमपहरति ।
ईरयति वारयति वा तं दीपः किं तथात्मापि ॥१३७॥

रात्रिके समय दीपकके जलते रहनेपर चोर घरमेंसे धन चुराकर ले जाता है; क्या दीपक उसे इसके लिये प्रेरित करता या रोकता है? [नहीं]। इसी प्रकार आत्मा भी चित्तादि इन्द्रियोंको उनके व्यापारमें न नियुक्त करता है, न वियुक्त ।

गेहान्ते दैववशात्कस्मिंश्चित्समुदिते विपन्ने वा ।
दीपस्तुष्यत्यथवा खिद्यति किं तद्वदात्मापि ॥१३८॥

घरके भीतर दैवयोगसे किसीके जन्मने अथवा मर जानेपर क्या दीपकको किसी प्रकारका हर्ष या खेद होता है? [नहीं]। उसी प्रकार आत्मा भी चित्तादिके हर्ष-शोकमें सर्वथा असंग और उदासीन साक्षीमात्र ही रहता है ।

स्वप्रकाशता

रविचन्द्रवह्निदीपप्रमुखाः स्वपरप्रकाशाः स्युः ।
यद्यपि तथाप्यमीभिः प्रकाश्यते क्वापि नैवात्मा ॥१३९॥

यद्यपि सूर्य, चन्द्र, अग्नि और दीपक आदि अपने और पराये सबके प्रकाशक हैं, तथापि इनसे आत्मा कभी प्रकाशित नहीं होता ।

चक्षुर्द्वारैव स्यात्परात्मना भानमेतेषाम् ।
यद्वा तेऽपि पदार्था न ज्ञायन्तेऽथ केवलालोकात्।१४०।
तत्राप्यक्षिद्वारा सहायभूतो न चेदात्मा ।
नोचेत्सत्यालोके पश्यत्यन्धः कथं नार्थान् ॥१४१॥

तथा इनका भान भी चक्षु-इन्द्रियद्वारा परमात्मासे ही होता है । अथवा यों कहो कि यदि नेत्रेन्द्रियद्वारा आत्मा सहायक न होता तो केवल प्रकाशसे ही इन पदार्थोंका भी ज्ञान नहीं हो सकता था । यदि हो सकता तो प्रकाशके रहते हुए भी अन्धा पुरुष पदार्थोंको क्यों नहीं देख लेता ?

सत्यात्मन्यपि किं नो ज्ञानं तच्चेन्द्रियान्तरेण स्यात् ।
अन्धे दृक्प्रतिबन्धे करसम्बन्धे पदार्थभानं हि ॥१४२॥

यदि कहो कि आत्माके रहते हुए [नेत्रेन्द्रियके अभावमें भी] अन्धे मनुष्यको पदार्थका ज्ञान क्यों नहीं होता ? सो उसे अन्य इन्द्रियोंसे ज्ञान होता ही है, क्योंकि अन्धे मनुष्यको नेत्र बन्द होनेपर भी हाथसे छूकर पदार्थका ज्ञान हो ही जाता है ।

जानाति येन सर्वं केन च तं वा विजानीयात् ।
इत्युपनिषदामुक्तिर्बुध्यत आत्मात्मना तस्मात्॥१४३॥

उपनिषदोंका कथन है कि 'जिसके द्वारा सब कुछ जाना जाता है उस (आत्मा) को किससे जाने ?' अतः आत्मा तो आत्मासे ही जाना जाता है ।

नादानुसन्धान

यावत्क्षणं क्षणार्धं स्वरूपपरिचिन्तनं क्रियते ।
तावद्दक्षिणकर्णे त्वनाहतः श्रूयते शब्दः ॥१४४॥

जब एक क्षण अथवा आधे क्षणके लिये भी स्वरूपका चिन्तन किया जाता है तब सीधे कानमें अनाहत-शब्द सुनायी देता है।

सिद्ध्यारम्भस्थिरताविश्रमविश्वासबीजशुद्धीनाम् ।
उपलक्षणं हि मनसः परमं नादानुसन्धानम् ॥१४५॥

नादानुसन्धान मनके लिये सिद्धिके आरम्भ, स्थिरता, विश्राम, विश्वास और वीर्य-शुद्धिका बतलानेवाला परम चिह्न है।

भेरीमृदङ्गशङ्खाद्याहतनादे मनः क्षणं रमते ।
किं पुनरनाहतेऽस्मिन्मधुमधुरेऽखण्डिते स्वच्छे ॥१४६॥

मन तो भेरी, मृदङ्ग और शङ्ख आदिके आघातजन्य नादोंमें भी एक क्षणके लिये मग्न हो जाता है, फिर इस मधुवत् मधुर, अखण्डित और स्वच्छ अनाहत नादकी तो बात ही क्या है?

चित्तं विषयोपरमाद्यथा यथा याति नैश्चल्यम् ।
वेणोरिव दीर्घतरस्तथा तथा श्रूयते नादः ॥१४७॥

विषयोंसे उपराम होकर मन जैसे-जैसे स्थिर होता जाता है, वैसे-वैसे ही बाँसुरीके शब्दके समान दीर्घ और स्फुट नाद सुनायी पड़ने लगता है।

नादाभ्यन्तर्वर्ति ज्योतिर्यद्वर्तते हि चिरम् ।
तत्र मनो लीनं चेन्न पुनः संसारबन्धाय ॥१४८॥

नादके भीतर रहनेवाली जो ज्योति है, उसमें यदि मन चिरकालतक लीन हो जाय तो फिर मनुष्य संसार-बन्धनमें नहीं पड़ता ।

परमानन्दानुभवात्सुचिरं नादानुसन्धानात् ।
श्रेष्ठश्चित्तलयोऽयं सत्स्वन्यलयेष्वनेकेषु ॥१४९॥

यद्यपि लयके और भी अनेक उपाय हैं तथापि जो चित्तलय दीर्घ कालतक नादानुसन्धान करते हुए परमानन्दका अनुभव होनेसे प्राप्त होता है वह सर्वोत्तम है ।

मनोलय

संसारतापतप्तं नानायोनिभ्रमात्परिश्रान्तम् ।
लब्ध्वा परमानन्दं न चलति चेतः कदा कापि॥१५०॥

संसार-तापसे सन्तप्त और नाना योनियोंमें आने-जानेसे श्रान्त (थका) हुआ चित्त परमानन्दको प्राप्त करके फिर कभी चञ्चल नहीं होता ।

अद्वैतानन्दभरात्किमिदं कोऽहं च कस्याहम् ।
इति मन्थरतां यातं यदा तदा मूर्छितं चेतः ॥१५१॥

अद्वैतानन्दके उद्वेगसे जब 'यह क्या है ? मैं कौन हूँ ? और किसका हूँ ?' ऐसी जिज्ञासासे चित्त सुस्त पड़ जाता है तो [अन्तमें] वह मूर्छित हो जाता है।

चिरतरमात्मानुभवादात्माकारं प्रजायते चेतः।
सरिदिव सागरयाता समुद्रभावं प्रयात्युच्चैः ॥१५२॥

चिरकालतक आत्मानुभव करते रहनेसे चित्त आत्माकार हो जाता है, जिस प्रकार समुद्रको जानेवाली नदी अन्तमें पूर्णतया समुद्ररूप ही हो जाती है।

आत्मन्यनुप्रविष्टं चित्तं नापेक्षते पुनर्विषयान्।
क्षीरादुद्धृतमाज्यं यथा पुनः क्षीरतां न यातीह ॥१५३॥

आत्मस्वरूपमें लगा हुआ चित्त फिर बाह्य विषयोंकी इच्छा नहीं करता, जैसे दूधमेंसे निकाला हुआ घी फिर दुग्ध-भावको प्राप्त नहीं हो सकता।

दृष्टौ द्रष्टरि दृश्ये यदनुस्यूतं च भानमात्रं स्यात्।
तत्रोपक्षीणं चेच्चित्तं तन्मूर्छितं भवति ॥१५४॥

दृष्टि, द्रष्टा और दृश्यमें जो ज्ञानमात्र तत्त्व अनुस्यूत हो रहा है उसमें यदि चित्त लीन हो जाय तो वह मूर्छित हो जाता है।

याति स्वसम्मुखत्वं दृङ्मात्रं वा यदा तदा भवति।
दृश्यद्रष्टृविभेदो ह्यसम्मुखेऽस्मिन्न तद्भवति ॥१५५॥

जब चित्त आत्माभिमुख रहता है, अथवा यों कहो कि जब वह दृङ्मात्र हो जाता है उस समय दृश्य और द्रष्टाका भेद नहीं रहता। किन्तु उसके आत्माभिमुख न रहनेपर ऐसा नहीं होता।

एकस्मिन्दृङ्मात्रे त्रेधा द्रष्ट्रादिकं हि समुदेति।
त्रिविधे तस्मिँल्लीने दृङ्मात्रं शिष्यते पश्चात् ॥१५६॥

एक दृङ्मात्रमें ही द्रष्टा आदि त्रिपुटीका उदय होता है, उस त्रिपुटीका लय हो जानेपर पीछे केवल दृङ्मात्र ही रह जाता है।

दर्पणतः प्राक्पश्चादस्ति मुखं प्रतिमुखं तदाभाति।
आदर्शेऽपि च नष्टे मुखमस्ति मुखे तथैवात्मा॥१५७॥

दर्पणसे पूर्व और उसके पीछे भी मुख होता है तभी उसमें उसका प्रतिबिम्ब पड़ता है। दर्पण यदि टूट जाय तब भी मुख तो ज्यों-का-त्यों ही रहता है, इसी प्रकार आत्मा उपाधिके नष्ट हो जानेपर भी रहता है।

प्रबोध

माधुर्यं गुडपिण्डे यत्तत्तस्यांशकेऽणुमात्रेऽपि।
एवं न पृथग्भावो गुडत्वमधुरत्वयोरस्ति ॥१५८॥

गुड़के पिण्डमें जो मधुरता होती है, वह उसके छोटे-से-छोटे कणमें भी होती है, इस प्रकार गुडत्व और मधुरत्वमें कोई भेद नहीं है।

अथवा न भिन्नभावः कर्पूरामोदयोरेवम् ।
आत्मस्वरूपमनसां पुंसां जगदात्मतां याति ॥१५९॥

अथवा जिस प्रकार कर्पूर और उसकी सुगन्धमें कोई भेद नहीं है उसी प्रकार जिनका चित्त आत्मस्वरूप हो गया है, उन पुरुषोंके लिये यह संसार आत्म-भावको प्राप्त हो जाता है ।

यद्भावानुभवः स्यान्निद्रादौ जागरस्यान्ते ।
अन्तः स चेत्स्थिरः स्याल्लभते हि तदाद्वयानन्दम् ॥

निद्राके आरम्भमें और जागृतिके अन्तमें जिस [शुद्ध निर्विषय] भावका अनुभव होता है वह यदि अन्तःकरणमें स्थिर हो जाय तो उससे अद्वयानन्दकी ही प्राप्ति होती है ।

अतिगम्भीरेऽपारे ज्ञानचिदानन्दसागरे स्फारे ।
कर्मसमीरणतरला जीवतरङ्गावलिः स्फुरति ॥१६१॥

अति गम्भीर, अपार और विस्तृत सच्चिदानन्द-समुद्रमें कर्म-वायुसे प्रेरित हुई जीवात्मारूपी तरङ्गें उठती रहती हैं ।

खरतरकरैः प्रदीप्तेऽभ्युदिते चैतन्यतिग्मांशौ ।
स्फुरति मृषैव समन्तादनेकविधजीवमृगतृष्णा ।१६२।

अपनी प्रचण्ड किरणोंसे देदीप्यमान अत्यन्त दीप्तिशाली चैतन्य-भास्करके प्रकाशमें ही सब ओर यह अनेक जीवरूप मृग-तृष्णा सर्वथा मिथ्या ही प्रतीत हो रही है ।

अन्तरदृष्टे यस्मिञ्जगदिदमारात्परिस्फुरति ।
दृष्टे यस्मिन्सकृदपि विलीयते काप्यसद्रूपम् ॥१६३॥
बाह्याभ्यन्तरपूर्णः परमानन्दार्णवे निमग्नो यः ।
चिरमाप्लुत इव कलशो महाह्रदे जह्नुतनयायाः॥१६४॥

जिस चैतन्य-सूर्यको अपने अन्तःकरणमें न देखनेसे ही अपने समीप इस जगत्की स्फूर्ति होती है और जिसे एक बार देख लेनेपर ही यह असत् संसार मानो कहीं लीन हो जाता है, उस परमानन्दरूप समुद्रमें जो पुरुष बाहर-भीतरसे पूर्ण होकर डूब गया है, उसकी दशा ऐसी होती है जैसे गंगाजीके महान् कुण्डमें चिरकालसे डूबा हुआ कोई कलश हो ।

पूर्णात्पूर्णतरे परात्परतरेऽप्यज्ञातपारे हरौ
संवित्स्फारसुधार्णवे विरहिते वीचीतरङ्गादिभिः ।
भास्वत्कोटिविकासितोज्ज्वलदिगाकाशप्रकाशे परे
स्वानन्दैकरसे निमग्नमनसां न त्वं न चाहं जगत्॥१६५॥

जो पूर्णसे भी पूर्ण और परसे भी पर है, जिसके पारका कोई पता नहीं है, जो भँवर और तरङ्गादिसे रहित प्रज्ञारूपी सुधाका महान् समुद्र है तथा जो अपने कोटि-कोटि सूर्योंके सदृश प्रकाशसे दशों दिशाओंको और प्रकाशको प्रकाशित तथा उज्ज्वल कर रहा है, उस निजानन्दमय परब्रह्म परमात्मामें जिनका मन डूबा हुआ है, उनकी दृष्टिमें न मैं है, न तू है और न यह संसार ही है।

द्विधाभक्ति

चित्ते सत्त्वोत्पत्तौ तडिदिव बोधोदयो भवति ।
तर्ह्येव स स्थिरः स्याद्यदि चित्तं शुद्धिमुपयाति॥१६६॥

चित्तमें सत्त्वगुण उत्पन्न होनेपर ज्ञानका बिजलीके समान उदय तो हो जाता है, परन्तु वह स्थिर तभी रहता है जब चित्त शुद्ध हो जाता है ।

शुद्ध्यति हि नान्तरात्मा कृष्णपदाम्भोजभक्तिमृते ।
वसनमिव क्षारोदैर्भक्त्या प्रक्षाल्यते चेतः ॥१६७॥

किन्तु अन्तःकरण भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रके चरणकमलोंकी भक्तिके बिना कभी शुद्ध नहीं हो सकता । जैसे वस्त्रको खारयुक्त जलसे शुद्ध किया जाता है, उसी प्रकार चित्तको भक्तिसे निर्मल किया जा सकता है ।

यद्वत्समलादर्शे सुचिरं भस्मादिना शुद्धे ।
प्रतिफलति वक्त्रमुच्चैः शुद्धे चित्ते तथा ज्ञानम्॥१६८॥

जिस प्रकार राख आदिसे चिरकालतक मार्जन करनेसे मलिन दर्पणके स्वच्छ हो जानेपर उसमें मुखका प्रतिबिम्ब स्पष्ट पड़ने लगता है उसी प्रकार शुद्ध चित्तमें ज्ञानका आविर्भाव हो जाता है ।

जानन्तु तत्र बीजं हरिभक्त्या ज्ञानिनो ये स्युः।
मूर्तं चैवामूर्तं द्वे एव ब्रह्मणो रूपे ॥१६९॥
इत्युपनिषत्तयोर्वा द्वौ भक्तौ भगवदुपदिष्टौ ।
क्लेशादक्लेशाद्वा मुक्तिः स्यादेतयोर्मध्ये ॥१७०॥

जो लोग हरि-भक्तिसे ज्ञानी हुए हैं, वे अपने ज्ञानका बीज (कारण) समझ लें। 'मूर्त्त (साकार) और अमूर्त्त (निराकार) दोनों ही ब्रह्मके रूप हैं'—ऐसा उपनिषद् कहते हैं; और भगवान्‌ने भी उन दोनों रूपोंके [व्यक्तोपासक तथा अव्यक्तोपासक-भेदसे] दो प्रकारके भक्त बताये हैं। इनमेंसे एक (अव्यक्तोपासक) को क्लेशसे और दूसरे (व्यक्तोपासक) को सुगमतासे मुक्ति मिलती है।

स्थूला सूक्ष्मा चेति द्वेधा हरिभक्तिरुद्दिष्टा ।
प्रारम्भे स्थूला स्यात्सूक्ष्मा तस्याः सकाशाच्च ॥१७१॥

भगवान्‌की भक्ति स्थूल और सूक्ष्म दो प्रकारकी कही गयी है; उनमें पहले स्थूल-भक्ति होती है और फिर उसीमेंसे सूक्ष्म-भक्तिका उदय होता है।

स्वाश्रमधर्माचरणं कृष्णप्रतिमार्चनोत्सवो नित्यम्।
विविधोपचारकरणैर्हरिदासैः सङ्गमः शश्वत् ॥१७२॥
कृष्णकथासंश्रवणे महोत्सवः सत्यवादश्च ।
परयुवतौ द्रविणे वा परापवादे पराङ्मुखता ॥१७३॥

ग्राम्यकथासूद्वेगः सुतीर्थगमनेषु तात्पर्यम् ।
यदुपतिकथावियोगे व्यर्थं गतमायुरिति चिन्ता ।१७४।

अपने वर्णाश्रम-धर्मोंका आचरण करना, नित्य भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रकी प्रतिमाका उत्साहपूर्वक विविध सामग्रियोंसे पूजनोत्सव करना, निरन्तर हरि-भक्तोंका संग करना, भगवत्कथाओंके सुननेमें अत्यन्त उत्साह रखना, सत्य भाषण करना तथा परस्त्री, परधन और परनिन्दासे दूर रहना, अश्लील बातोंसे घृणा करना, पुण्य-तीर्थ-स्थानोंमें जानेके लिये तत्पर रहना तथा 'भगवत्कथा-श्रवणादिके बिना यह आयु व्यर्थ ही बीत गयी'—ऐसी चिन्ता करना—ये सब स्थूल-भक्तिके लक्षण हैं ।

एवं कुर्वति भक्तिं कृष्णकथानुग्रहोत्पन्ना ।
समुदेति सूक्ष्मभक्तिर्यस्या हरिरन्तराविशति ॥१७५॥

इस प्रकार स्थूल-भक्तिका अभ्यास करते-करते भगवत्कथाके अनुग्रहसे सूक्ष्म-भक्तिका उदय होता है, जिसके भीतर भगवान्‌की उपलब्धि होती है ।

स्मृतिसत्पुराणवाक्यैर्यथाश्रुतायां हरेर्मूर्तौ ।
मानसपूजाभ्यासो विजननिवासेऽपि तात्पर्यम् ॥१७६॥
सत्यं समस्तजन्तुषु कृष्णस्यावस्थितेर्ज्ञानम् ।
अद्रोहो भूतगणे ततस्तु भूतानुकम्पा स्यात् ॥१७७॥

प्रमितयदृच्छालाभे सन्तुष्टिर्दारपुत्रादौ ।
ममताशून्यत्वमतो निरहङ्कारत्वमक्रोधः ॥१७८॥
मृदुभाषिता प्रसादो निजनिन्दायां स्तुतौ समता ।
सुखदुःखशीतलोष्णद्वन्द्वसहिष्णुत्वमापदो न भयम् ॥
निद्राहारविहारेष्वनादरः सङ्गराहित्यम् ।
वचने चानवकाशः कृष्णस्मरणेन शाश्वती शान्तिः ॥
केनापि गीयमाने हरिगीते वेणुनादे वा ।
आनन्दाविर्भावो युगपत्स्याद् धृष्टसात्त्विकोद्रेकः ॥

[उस सूक्ष्म-भक्तिके लक्षण ये हैं—] स्मृति और पुराणोंके सद्वाक्योंसे सुनी हुई भगवान्‌की मूर्तिके मानस-पूजनका अभ्यास, एकान्त-सेवनमें तत्पर रहना, सत्य, समस्त प्राणियोंमें श्रीकृष्णचन्द्र-को वर्तमान जानना और सम्पूर्ण प्राणियोंसे अद्रोह । इन साधनोंसे समस्त प्राणियोंपर दया उत्पन्न हो जाती है । इनके सिवा प्रारब्धा-नुकूल स्वल्प लाभमें सन्तोष रखना, स्त्री और पुत्र आदिमें ममता-शून्य होना, अहङ्कार और क्रोधसे रहित होना, मृदु भाषण करना, प्रसन्न-चित्त रहना, अपनी निन्दा और स्तुतिमें समान रहना, सुख-दुःख और शीतोष्णादि द्वन्द्वोंको सहन करना, आपत्तिसे भय न करना, निद्रा, आहार और विहारादिमें अनादर, अनासक्त रहना, व्यर्थ वार्तालापके लिये अवकाश न देना, श्रीकृष्ण-स्मरणसे

निरन्तर शान्त-चित्त रहना तथा कोई भगवत्सम्बन्धी गीतका गान करे अथवा बाँसुरी बजावे तो एक ही समय आनन्दका आविर्भाव और सात्त्विक भावोंका प्रौढ़ उद्रेक हो जाना।

तस्मिन्ननुभवति मनः प्रगृह्यमाणं परात्मसुखम्।
स्थिरतां याते तस्मिन्याति मदोन्मत्तदन्तिदशाम्॥१८२॥

उस सत्त्वोद्रेकमें रोककर रक्खा हुआ मन परमात्मसुखका अनुभव करता है। फिर उस (परमात्मसुख) के स्थिर हो जानेपर चित्तकी अवस्था मतवाले हाथीके समान हो जाती है।

जन्तुषु भगवद्भावं भगवति भूतानि पश्यति क्रमशः।
एतादृशी दशा चेत्तदैव हरिदासवर्यः स्यात्॥१८३॥

और वह क्रमशः समस्त प्राणियोंमें भगवान्‌को और भगवान्‌में समस्त प्राणियोंको देखने लगता है, यदि ऐसी अवस्था हो जाय तो वह तत्काल भगवद्भक्तोंमें श्रेष्ठ हो जाता है।

ध्यानविधि

यमुनातटनिकटस्थितवृन्दावनकानने महारम्ये।
कल्पद्रुमतलभूमौ चरणं चरणोपरि स्थाप्य॥१८४॥
तिष्ठन्तं घननीलं स्वतेजसा भासयन्तमिह विश्वम्।
पीताम्बरपरिधानं चन्दनकर्पूरलिप्तसर्वाङ्गम्॥१८५॥



श्रीशंकरके ध्येय बाल-कृष्ण

आकर्णपूर्णनेत्रं कुण्डलयुगमण्डितश्रवणम् ।
मन्दस्मितमुखकमलं सुकौस्तुभोदारमणिहारम् ॥१८६॥
वलयाङ्गुलीयकाद्यानुज्ज्वलयन्तं स्वलङ्कारान् ।
गलविलुलितवनमालं स्वतेजसापास्तकलिकालम् ॥
गुञ्जारवालिकलितं गुञ्जापुञ्जान्विते शिरसि ।
भुञ्जानं सह गोपैः कुञ्जान्तरवर्तिनं हरिं स्मरत ॥१८८॥

श्रीयमुनाजीके तटपर स्थित वृन्दावनके किसी महामनोहर उद्यानमें जो कल्पवृक्षके नीचे पृथिवीपर पाँवपर पाँव रखे बैठे हैं, जो मेघके समान श्यामवर्ण हैं, अपने तेजसे इस निखिल ब्रह्माण्डको प्रकाशित कर रहे हैं, सुन्दर पीताम्बर धारण किये हुए हैं, समस्त शरीरमें कर्पूरमिश्रित चन्दनका लेप लगाये हुए हैं, जिनके कर्णपर्यन्त विशाल नेत्र हैं, कान कुण्डलके जोड़ेसे सुशोभित हैं, मुख-कमल मन्द-मन्द मुसका रहा है, तथा वक्षःस्थलमें कौस्तुभ-मणियुक्त सुन्दर हार है और जो [अपनी कान्तिसे] कङ्कण और अंगूठी आदि सुन्दर आभूषणोंकी भी शोभा बढ़ा रहे हैं, जिनके गलेमें वनमाला लटक रही है और अपने तेजसे जिन्होंने कलिकालको परास्त कर दिया है तथा जिनका गुञ्जावलिविभूषित मस्तक गूँजते हुए भ्रमर-समूहसे सुशोभित है, किसी कुञ्जके भीतर बैठकर ग्वालबालोंके साथ भोजन करते हुए उन श्रीहरिका स्मरण करो ।

मन्दारपुष्पवासितमन्दानिलसेवितं परानन्दम् ।
मन्दाकिनीयुतपदं नमत महानन्ददं महापुरुषम् ॥

जो कल्पवृक्षके पुष्पोंकी गन्धसे युक्त मन्द-मन्द वायुसे सेवित हैं, परमानन्दस्वरूप हैं तथा जिनके चरण-कमलोंमें श्रीगंगाजी विराजमान हैं उन महानन्ददायक महापुरुषको नमस्कार करो ।

सुरभीकृतदिग्वलयं सुरभिशतैरावृतं सदा परितः ।
सुरभीतिक्षपणमहासुरभीमं यादवं नमत ॥१९०॥

जिन्होंने समस्त दिशाओंको सुगन्धित कर रक्खा है, जो चारों ओरसे सैकड़ों कामधेनु गौओंसे घिरे हुए हैं तथा देवताओंके भयको दूर करनेवाले और बड़े-बड़े राक्षसोंके लिये भयङ्कर हैं उन यदुनन्दनको नमस्कार करो ।

कन्दर्पकोटिसुभगं वाञ्छितफलदं दयार्णवं कृष्णम् ।
त्यक्त्वा कमन्यविषयं नेत्रयुगं द्रष्टुमुत्सहते ॥१९१॥

जो करोड़ों कामदेवोंसे भी सुन्दर हैं, वाञ्छित फलके देनेवाले हैं, दयाके समुद्र हैं, उन श्रीकृष्णचन्द्रको छोड़कर ये नेत्र-युगल और किस विषयको देखनेके लिये उत्सुक होते हैं ?

पुण्यतमामतिसुरसां मनोऽभिरामां हरेः कथां त्यक्त्वा ।
श्रोतुं श्रवणद्वन्द्वं ग्राम्यकथामादरं वहति ॥१९२॥

[अहो ! खेदकी बात है कि] अत्यन्त पवित्र, अति सुन्दर रसमयी और मनोहारिणी हरिकथाको छोड़कर ये कर्णयुगल अन्य ग्राम्य-वार्ताओंके सुननेमें श्रद्धा प्रकट करते हैं ।

दौर्भाग्यमिन्द्रियाणां कृष्णे विषये हि शाश्वतिके ।
क्षणिकेषु पापकरणेष्वपि सज्जन्ते यदन्यविषयेषु ॥

इन्द्रियोंका यह परम दुर्भाग्य ही है कि नित्य-विद्यमान श्रीकृष्ण-रूप विषयके रहते हुए भी वे अन्य क्षणिक और पापमय विषयोंमें आसक्त हो जाती हैं ।

सगुण-निर्गुणकी एकता

श्रुतिभिर्महापुराणैः सगुणगुणातीतयोरैक्यम् ।
यत्प्रोक्तं गूढतया तदहं वक्ष्येऽतिविशदार्थम् ॥१९४॥

श्रुतियों और महापुराणोंने जो सगुण और निर्गुणकी एकता गूढ़भावसे कही है, उसीको मैं स्पष्ट करके बतलाता हूँ ।

भूतेष्वन्तर्यामी ज्ञानमयः सच्चिदानन्दः ।
प्रकृतेः परः परात्मा यदुकुलतिलकः स एवायम् ॥१९५॥

जो ज्ञानस्वरूप, सच्चिदानन्द, प्रकृतिसे परे परमात्मा सब भूतोंमें अन्तर्यामीरूपसे स्थित है यह यदुकुल-भूषण श्रीकृष्ण वही तो है ।

ननु सगुणो दृश्यतनुस्तथैकदेशाधिवासश्च ।
स कथं भवेत्परात्मा प्राकृतवद्रागरोषयुतः ॥१९६॥

[यदि कहो कि] यह श्रीकृष्ण तो सगुण है, दृश्य शरीरधारी है, एकदेशी है तथा साधारण पुरुषोंके समान रागद्वेषयुक्त है; यह परमात्मा कैसे हो सकता है ?

इतरे दृश्यपदार्था लक्ष्यन्तेऽनेन चक्षुषा सर्वे ।
भगवाननया दृष्ट्या न लक्ष्यते ज्ञानदृग्गम्यः ॥१९७॥

[तो इस विषयमें यह विचारना चाहिये कि] इन चर्म-चक्षुओंसे तो अन्य सब दृश्य-पदार्थ ही जाने जा सकते हैं, इनसे भगवान् दिखायी नहीं दे सकते; वे तो ज्ञान-दृष्टिके ही विषय हैं ।

यद्विश्वरूपदर्शनसमये पार्थाय दत्तवान्भगवान् ।
दिव्यं चक्षुस्तस्मादृश्यता युज्यते नृहरौ ॥१९८॥

भगवान्‌ने अपना विश्वरूप दिखलाते समय अर्जुनको दिव्य-दृष्टि दी थी, इससे उन नररूप हरिकी अदृश्यता सिद्ध ही है; [क्योंकि चर्म-चक्षुओंसे न दीख सकनेके कारण ही तो उन्होंने अर्जुनको दिव्य-दृष्टि दी थी] ।

साक्षाद्यथैकदेशे वर्तुलमुपलभ्यते रवेर्बिम्बम् ।
विश्वं प्रकाशयति तत्सर्वैः सर्वत्र दृश्यते युगपत् ॥

जिस प्रकार गोलाकार सूर्य-मण्डल साक्षात् एक देशमें ही दिखायी देता है, किन्तु वह सम्पूर्ण जगत्को प्रकाशित करता है और सबको एक साथ ही सब जगह दीखता भी है।

यद्यपि साकारोऽयं तथैकदेशी विभाति यदुनाथः।
सर्वगतः सर्वात्मा तथाप्ययं सच्चिदानन्दः॥२००॥

उसी प्रकार यदुनाथ श्रीकृष्णचन्द्र यद्यपि साकार हैं और एकदेशी-से दिखायी देते हैं तथापि वे सर्वव्यापी, सर्वात्मा और सच्चिदानन्दस्वरूप ही हैं।

एको भगवान्रेमे युगपद्गोपीष्वनेकासु।
अथवा विदेहजनकश्रुतदेवभूदेवयोर्हरिर्युगपत्॥२०१॥

देखो, एक ही भगवान्ने एक साथ अनेक गोपियोंके साथ रमण किया तथा विदेह जनक और श्रुतदेव ब्राह्मण दोनोंके घरोंमें एक ही साथ आतिथ्य ग्रहण किया।

अथवा कृष्णाकारां स्वचमूं दुर्योधनोऽपश्यत्।
तस्माद्व्यापक आत्मा भगवान्हरिरीश्वरः कृष्णः॥२०२॥

इनके अतिरिक्त दुर्योधनने भी अपनी समस्त सेनाको श्रीकृष्णरूप ही देखा था। इससे विदित होता है कि श्रीकृष्णचन्द्र व्यापक आत्मा ईश्वर हरि ही हैं।

वक्षसि यदा जघान श्रीवत्सः श्रीपतेः स किं द्वेष्यः ।
भक्तानामसुराणामन्येषां वा फलं सदृशम् ॥२०३॥

जब भृगुजीने भगवान्‌के वक्षःस्थलमें पाद-प्रहार किया था तो क्या वे उन श्रीपतिके द्वेष्य हो गये थे ? [नहीं, उन्हें तो सभी समान हैं] भक्त, असुर और अन्य पुरुषोंको भी वे एक-सा ही फल देते हैं ।

तस्मान्न कोऽपि शत्रुर्नो मित्रं नाप्युदासीनः ।
नृहरिः सन्मार्गस्थः सफलः शाखीव यदुनाथः॥२०४॥

इसलिये भगवान्‌का न कोई मित्र है, न शत्रु है और न उदासीन है । श्रीनृहरि तो सुन्दर मार्गपर लगे हुए एक फलयुक्त वृक्षके समान हैं ।

लोहशलाकानिवहैः स्पर्शाश्मनि भिद्यमानेऽपि ।
स्वर्णत्वमेति लौहं द्वेषादपि विद्विषां तथा प्राप्तिः ॥२०५॥

पारसको यदि लोहेकी शलाकाओंसे भेदा भी जाय तो भी उनका लोहा सुवर्ण हो जाता है, इसी प्रकार शत्रुओंको द्वेषसे भी भगवान्‌की प्राप्ति हो जाती है ।

नन्वात्मनः सकाशादुत्पन्ना जीवसन्ततिश्चेयम् ।
जगतः प्रियतर आत्मा तत्प्रकृते नैव सम्भवति॥२०६॥

शङ्का—आत्मासे तो इन समस्त जीवोंकी उत्पत्ति हुई है और संसारमें सबसे अधिक प्रिय भी आत्मा ही है, किन्तु श्रीकृष्णचन्द्रमें यह बात नहीं मिल सकती ।

वत्साहरणावसरे पृथग्वयोरूपवासनाभूषान् ।
हरिरजमोहं कर्तुं स वत्सगोपान्विनिर्ममे स्वस्मात्॥२०७॥

समाधान—बछड़ोंको चुरा लेनेके समय ब्रह्माको मोहित करनेके लिये भगवान्‌ने पृथक्-पृथक् अवस्था, रूप, वासनाओं और भूषणोंसे युक्त गोप और बछड़ोंको अपने आपसे ही बना लिया था।

अग्नेर्यथा स्फुलिङ्गाः क्षुद्रास्तु व्युच्चरन्तीति ।
श्रुत्यर्थं दर्शयितुं स्वतनोरतनोत्स जीवसन्दोहम्॥२०८॥

'जिस प्रकार अग्निसे छोटी-छोटी चिनगारियाँ निकलती हैं उसी प्रकार आत्मासे विविध प्राणियोंकी उत्पत्ति होती है'—इस श्रुतिके अर्थको सिद्ध करनेके लिये ही भगवान्‌ने अपने शरीरसे उस जीव-समूहको रचा था ।

यमुनातीरनिकुञ्जे कदाचिदपि वत्सकांश्च चारयति ।
कृष्णे तथार्यगोपेषु च वरगोष्ठेषु चारयत्स्वारात्॥२०९॥
वत्सं निरीक्ष्य दूराद्गावः स्नेहेन सम्भ्रान्ताः ।
तदभिमुखं धावन्त्यः प्रययुर्गोपैश्च दुर्वाराः ॥२१०॥

एक दिन जब श्रीकृष्णचन्द्र यमुनाके तटपर एक कुञ्जमें बछड़ोंको चरा रहे थे और पास ही दूसरे गोष्ठमें वृद्ध गोपगण गौओंको चरा रहे थे तो गौएँ दूरसे ही अपने बछड़ोंको देखकर स्नेहसे व्याकुल हो उनकी ओर दौड़कर चलीं तथा गोपोंके बहुत कुछ रोकनेपर भी न रुक सकीं।

प्रस्नवभरेण भूयः स्रुतस्तनाः प्राप्य पूर्ववद्वत्सान्।
पृथुरसनया लिहन्त्यस्तर्णकवत्योऽप्यपाययन्प्रमुदा॥

दूधके उमड़नेसे उनके स्तन पुनः-पुनः बहने लगे और जिनके नये बछड़ोंने जन्म ले लिया था उन्होंने भी उमङ्गमें भरकर अपने बछड़ोंको पूर्ववत् लम्बी-लम्बी जीभोंसे चाटते हुए खूब दूध पिलाया।

गोपा अपि निजबालाञ्जगृहुर्मूर्धानमाघ्राय।
इत्थमलौकिकलाभस्तेषां तत्र क्षणं ववृधे॥२१२॥

गोपोंने भी अपने-अपने बालकोंका सिर सूँघते हुए उन्हें उठा लिया। इस प्रकार उस समय एक क्षणके लिये वहाँ अलौकिक उत्साहकी वृद्धि हुई।

गोपा वत्साश्चान्ये पूर्वं कृष्णात्मका ह्यभवन्।
तेनात्मनः प्रियत्वं दर्शितमेतेषु कृष्णेन॥२१३॥

ये सब ग्वालबाल और बछड़े पहले श्रीकृष्णरूप ही तो थे; इसलिये ऐसा करके श्रीकृष्णचन्द्रने इनमें अपनी प्रियतमताको दिखा दिया ।

प्रेयः पुत्राद्वित्तात्प्रेयोऽन्यस्माच्च सर्वस्मात् ।
अन्तरतरं यदात्मेत्युपनिषदः सत्यताभिहिता॥२१४॥

उपनिषदोंने जो कहा है कि आत्मा पुत्रसे, वित्तसे तथा अन्य समस्त वस्तुओंसे भी प्रियतर और आन्तरिक है, उसको भगवान्‌ने सत्य करके दिखा दिया ।

नन्वुच्चावचभूतेष्वात्मा सम एव वर्ततेऽथ हरिः ।
दुर्योधनेऽर्जुने वा तरतमभावं कथं नु गतवान्सः।२१५।

शङ्का—आत्मा तो ऊँच-नीच सभी प्राणियोंमें समान है, फिर भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुन और दुर्योधन आदिमें विषमभाव क्यों किया ?

बधिरान्धपङ्गुमूका दीर्घाः खर्वाः सरूपाश्च ।
सर्वे विधिना दृष्टाः सवत्सगोपाश्चतुर्भुजास्तेन॥२१६॥

समाधान—ब्रह्माने बहरे, अन्धे, पङ्गु, मूक, छोटे, बड़े सभी बछड़ोंको और ग्वालोंको चतुर्भुजरूप ही देखा था ।

भूतसमत्वं नृहरेः समो हि मशकेन नागेन ।
लोकैः समस्त्रिभिर्वेत्युपनिषदा भाषितः साक्षात्।२१७।

उपनिषदोंने भी मच्छरसे लेकर हाथीपर्यन्त त्रिलोकीके समस्त जीवोंमें भगवान्‌की समता साक्षात् बतायी है ।

आत्मा तावदभोक्ता तथैव ननु वासुदेवश्चेत् ।
नानाकैतवयत्नैः पररमणीभिः कथं रमते ॥२१८॥

शङ्का—आत्मा तो अभोक्ता है; यदि वासुदेव भी साक्षात् आत्मा ही हैं तो उन्होंने नाना प्रकारके छल-छन्दोंसे पर-स्त्रियोंके साथ रमण क्यों किया ?

सुन्दरमभिनवरूपं कृष्णं दृष्ट्वा विमोहिता गोप्यः ।
तमभिलषन्त्यो मनसा कामाद्विरहव्यथां प्रापुः ॥२१९॥

समाधान—उन अति मनोहर, अभिनवरूप श्रीकृष्णचन्द्रको देखकर मोहित हुई गोपियाँ ही उनकी मन-ही-मन इच्छा करती थीं और [उनके न मिलनेपर] कामातुरा होकर अत्यन्त विरहाकुला हो जाती थीं ।

गच्छन्त्यस्तिष्ठन्त्यो गृहकृत्यपराश्च भुञ्जानाः ।
कृष्णं विनान्यविषयं समक्षमपि जातु नाविन्दन् ॥२२०॥

चलते-फिरते, उठते-बैठते, घरके कामोंको करते तथा भोजनादि करते हुए हर समय श्रीकृष्णचन्द्रके अतिरिक्त उन्हें सामने पड़ी हुई भी कोई वस्तु दिखायी नहीं देती थी । [उन्हें सभी पदार्थ श्रीकृष्णमय प्रतीत होते थे] ।

दुःसहविरहभ्रान्त्या स्वपतीन्ददृशुस्तरून्नरांश्च पशून् ।
हरिरयमिति सुप्रीताः सरभसमालिङ्गयाञ्चक्रुः ॥२२१॥

दुःसह विरह-व्यथाके कारण उत्पन्न हुए भ्रमसे अपने पति, वृक्ष, मनुष्य और पशु आदिको भी 'ये हरि ही हैं' ऐसा जानकर वे प्रेमविभोर होकर अति वेगसे आलिङ्गन कर लेती थीं ।

कापि च कृष्णायन्ती कस्याश्चित्पूतनायन्त्याः ।
अपिबत्स्तनमिति साक्षाद्व्यासो नारायणः प्राह॥२२२॥

साक्षात् नारायण भगवान् व्यासने भी कहा है कि कोई गोपी कृष्ण बनकर पूतना बनी हुई दूसरी गोपीका स्तन-पान करती थी ।

तस्मान्निजनिजदयितान्कृष्णाकारान्व्रजस्त्रियो वीक्ष्य ।
स्वपरनृपतिपत्नीनामन्तर्यामी हरिः साक्षात् ॥२२३॥

अतः यह सिद्ध होता है कि व्रजबालाएँ अपने-अपने पतियोंको कृष्णरूप देखकर उन्हींको आलिङ्गन करती थीं और यह समझती थीं कि यह श्रीकृष्ण ही अपने-पराये समस्त मानव पति-पत्नियोंके साक्षात् अन्तर्यामी हैं ।

परमार्थतो विचारे गुडतन्मधुरत्वदृष्टान्तात् ।
नश्वरमपि नरदेहं परमात्माकारतां याति ॥२२४॥

वास्तवमें विचार किया जाय तो गुड़ और उसकी मधुरताके अभेदके समान यह नाशवान् मनुष्य-शरीर भी परमात्मारूप ही प्रतीत होगा ।

किं पुनरनन्तशक्तेर्लीलावपुरीश्वरस्येह ।
कर्माण्यलौकिकानि स्वमायया विदधतो नृहरेः॥२२५॥

फिर अपनी मायासे अलौकिक कर्म करनेवाले अनन्तशक्ति ईश्वर नृहरिके लीलामय शरीरकी तो बात ही क्या है ?

मृद्भक्षणेन कुपितां विकसितवदनां स्वमातरं वक्त्रे ।
विश्वमदर्शयदखिलं किं पुनरथ विश्वरूपोऽसौ ॥२२६॥

मिट्टी खानेपर कुपित होकर माता यशोदाने जब मुँह खोला तो जिन्होंने उस (मुख) में ही सारा ब्रह्माण्ड दिखा दिया, वे ही यदि स्वयं विश्वरूप हो गये तो क्या आश्चर्य है ?

अनुग्रह

विषविषमस्तनयुगलं पाययितुं पूतना गृहं प्राप्ता ।
तस्याः पृथुभाग्याया आसीत्कृष्णार्पणो देहः॥२२७॥

देखो, पूतना स्तनोंमें विषम विष लगाकर उन्हें पिलानेके लिये घरमें आयी थी, किन्तु उस बड़भागिनीका शरीर श्रीकृष्णके अर्पण हो गया !

अनयत्पृथुतरशकटं निजनिकटं वा कृतापराधमपि ।
कण्ठाश्लेषविशेषादवधीद्बाल्येऽसुरं कृष्णः ॥२२८॥

शकटासुर बड़ा अपराधी था तथापि भगवान् कृष्णने उसे अपने निकट बुला लिया [अर्थात् उसे मारकर अपना धाम दिया], और बाल्यावस्थामें ही उन्होंने [तृणावर्त] असुरको गला घोंटकर मार डाला ।

यमलार्जुनौ तरू उन्मूल्योलूखलगतश्चिरं खिन्नौ ।
रिङ्गन्नङ्गणभूमौ स्वमालयं प्रापयन्नृहरिः ॥२२९॥

चिरकालसे दुःखी यमलार्जुन-वृक्षोंको ऊखलमें बँधे-बँधे ही अपने घरके आँगनमें रेंगते हुए श्रीकृष्णने उखाड़कर अपने लोक-को भेज दिया ।

नित्यं त्रिदशद्वेषी येन च मृत्योर्वशीकृतः केशी ।
काकः कोऽपि वराको बकोप्यशोकं गतो लोकम् ॥

उन श्रीकृष्णचन्द्रने ही देवताओंसे नित्य द्वेष करनेवाले केशीका वध किया और [उन्हींकी कृपासे] बेचारे तुच्छ काकासुर और बकासुर भी शोकरहित लोकोंको गये ।

गोगोपीगोपानां निकरमहिं पीडयन्तमतिवेगात् ।
अनघमघासुरमकरोत्पृथुतरमुरगेश्वरं भगवान्॥२३१॥

बड़े भारी अजगर-रूप अघासुरको, जो गौवों, गोपों और गोपियोंको अपने पेटमें डालकर अति पीड़ा पहुँचा रहा था, मारकर भगवान्‌ने अनघ (निष्पाप) कर दिया ।

पीत्वारण्यहुताशनमसह्यतत्तेजसो हेतोः ।
दग्धान्मुग्धानखिलाञ्जुगोप गोपान्कृपासिन्धुः ॥

जो अपने तेजके कारण अति असह्य था, वनमें लगे हुए उस दावानलको पीकर उसके कारण दग्ध और मुग्ध हुए समस्त गोपोंकी कृपासागर भगवान्‌ने रक्षा की ।

पातुं गोकुलमाकुलमशनितडिद्वर्षणैः कृष्णः ।
असहाय एकहस्ते गोवर्धनमुद्दधारोच्चैः ॥२३३॥

वज्र, बिजली और वर्षासे व्याकुल गोकुलकी रक्षा करनेके लिये कृष्णचन्द्रने बिना किसीकी सहायताके ही एक हाथपर गोवर्धन-पर्वतको उठा लिया ।

वासोलोभाकलितं धावद्रजकं शिलातलैर्हत्वा ।
विस्मृत्य तदपराधं विकुण्ठवासोऽर्पितस्तस्मै ॥२३४॥

वस्त्रोंके लोभसे भागते हुए धोबीको पत्थरोंसे मारकर भगवान्‌ने उसके अपराधको भूलकर उसे वैकुण्ठ-वास दिया ।

त्रेधा वक्रशरीरामतिलम्बोष्ठीं स्खलद्वपुर्वचनाम् ।
स्रक्चन्दनपरितोषात्कुब्जामृज्वाननामकरोत् ॥२३५॥

तीन ओरसे टेढ़े शरीरवाली और अति लम्बे-लम्बे होठोंवाली कुब्जाको जिसके शरीर और वाणी प्रेमवश कम्पायमान हो रहे थे, केवल माला और चन्दनसे ही सन्तुष्ट होकर, सुन्दरी सुमुखी बना दिया।

निहतः पपात हरिणा हरिचरणाग्रेण कुवलयापीडः।
तुङ्गोन्मत्तमतङ्गः पतङ्गवद्दीपकस्याग्रे ॥२३६॥

बड़ा ऊँचा और मदोन्मत्त कुवलयापीड हाथी भगवान् हरिके चरणकी ठोकरसे मारा जाकर इस प्रकार गिरा जैसे दीपकके सामने पतङ्ग गिरता है।

युद्धमिषात्सह रङ्गे श्रीरङ्गेनाङ्गसङ्गमं प्राप्य।
मुष्टिकचाणूराख्यौ ययतुर्निःश्रेयसं सपदि ॥२३७॥

युद्धके मिषसे ही रङ्गभूमिमें श्रीरमानाथका अङ्ग-सङ्ग पाकर मुष्टिक और चाणूर नामके पहलवान तुरन्त मोक्षपदको प्राप्त हो गये।

देहकृतादपराधाद्वैकुण्ठोत्कण्ठितान्तरात्मानम्।
यदुवरकुलावतंसः कंसं विध्वंसयामास ॥२३८॥

अपने देहकृत अपराधोंसे ही वैकुण्ठ-प्राप्तिकी उत्कण्ठावाले कंसको यदुकुलभूषण कृष्णचन्द्रने नष्ट कर दिया।

हरिसन्दर्शनयोगात्पृथुरणतीर्थे निमज्जते तस्मै।
भगवान्नु प्रददाद्यः सद्यश्चैद्याय सायुज्यम् ॥२३९॥

हरिके दर्शनका सुयोग मिल जानेसे अति महान् युद्ध-तीर्थमें डूब जानेवाले उस चेदिराज शिशुपालको भगवान्‌ने तुरन्त सायुज्य-मुक्ति दे दी ।

मीनादिभिरवतारैर्निहताः सुरविद्विषो बहवः ।
नीतास्ते निजरूपं तत्र च मोक्षस्य का वार्ता ॥२४०॥

मत्स्यादि अवतारोंमें भगवान्‌ने जिन-जिन अनेकों देव-द्रोहियोंको मारा उन सभीको अपना ही रूप दे दिया, मोक्षकी तो बात ही क्या है ?

ये यदुनन्दननिहतास्ते तु न भूयः पुनर्भवं प्रापुः ।
तस्मादवताराणामन्तर्यामी प्रवर्तकः कृष्णः ॥२४१॥

यदुनन्दनने जिन-जिनका वध किया उनको तो फिर पुनर्जन्मकी प्राप्ति हुई नहीं; अतः समस्त अवतारोंके प्रवर्तक अन्तर्यामी श्रीकृष्णचन्द्र ही हैं ।

ब्रह्माण्डानि बहूनि पङ्कजभवान्प्रत्यण्डमत्यद्भुता-
न्गोपान्वत्सयुतानदर्शयदजं विष्णूनशेषांश्च यः ।
शम्भुर्यच्चरणोदकं स्वशिरसा धत्ते च मूर्तित्रया-
त्कृष्णो वै पृथगस्ति कोऽप्यविकृतः सच्चिन्मयो नीलिमा

जिन्होंने ब्रह्माजीको अनेक ब्रह्माण्ड, प्रत्येक ब्रह्माण्डमें जुदे-जुदे अति अद्भुत ब्रह्मा, वत्सोंके सहित समस्त गोपों तथा [भिन्न-भिन्न ब्रह्माण्डोंके] समस्त विष्णु दिखाये; और जिनके चरणोदकको

श्रीशङ्कर अपने शिरपर धारण करते हैं वे श्रीकृष्ण त्रिमूर्ति (ब्रह्मा, विष्णु, महेश) से भिन्न कोई अविकारिणी सच्चिदानन्दमयी नीलिमा हैं।

कृपापात्रं यस्य त्रिपुररिपुरम्भोजवसतिः
सुता जह्नोः पूता चरणनखनिर्णेजनजलम्।
प्रदानं वा यस्य त्रिभुवनपतित्वं विभुरपि
निदानं सोऽस्माकं जयति कुलदेवो यदुपतिः ॥२४३॥

त्रिपुरारि शिव और कमलासन ब्रह्मा जिनकी कृपाके पात्र हैं, परमपावन श्रीगंगाजी जिनके चरण-नखका धोवन हैं तथा त्रिलोकीका राज्य जिनका दान है वे सर्वव्यापक और हम सबके आदि-कारण तथा कुलदेव श्रीयदुनाथ सदा विजयी हो रहे हैं।

मायाहस्तेऽर्पयित्वा भरणकृतिकृते मोहमूलोद्भवं मां
मातः कृष्णाभिधाने चिरसमयमुदासीनभावं गतासि।
कारुण्यैकाधिवासे सकृदपि वदनं नेक्षसे त्वं मदीयं
तत्सर्वज्ञे न कर्तुं प्रभवति भवती किं नु मूलस्य शान्तिम्

हे कृष्णनाम्नी मातेश्वरि ! मोहरूपी मूलनक्षत्रमें उत्पन्न हुए मुझ पुत्रको भरण-पोषणके लिये मायाके हाथोंमें सौंपकर तू बहुत दिनोंसे मेरी ओरसे उदासीन हो गयी है। अरी एकमात्र करुणामयी माँ 'तू एक बार भी मेरा मुख नहीं देखती ? हे सर्वज्ञे ! क्या तू उस मोहरूपी मूलकी शान्ति करनेमें समर्थ नहीं है ?

उदासीनः स्तब्धः सततमगुणः सङ्गरहितो
भवांस्तातः कातः परमिह भवेज्जीवनगतिः।
अकस्मादस्माकं यदि न कुरुते स्नेहमथ त-
द्वसस्व स्वीयान्तर्विमलजठरेऽस्मिन्पुनरपि ॥२४५॥

आप हमारे पिता तो उदासीन, निष्क्रिय, सदा निर्गुण और असंग ठहरे; अतः अब हमारे जीवनकी और क्या गति होगी। अच्छा यदि आप हमसे अकारण ही स्नेह नहीं कर सकते तो अपने निर्मल निवास-स्थानरूप इस अन्तःकरणमें तो बसो।

लोकाधीशे त्वयीशे किमिति भवभवावेदना स्वाश्रितानां
सङ्कोचः पङ्कजानां किमिह समुदिते मण्डले चण्डरश्मेः।
भोगः पूर्वार्जितानां भवति भुवि नृणां कर्मणां चेदवश्यं
तन्मे दृष्टैर्नृपुष्टैर्ननु दनुजनृपैरूर्जितं निर्जितं ते ॥२४६॥

आप लोकाधीश स्वामीके रहते हुए आपके आश्रितोंको संसारजन्य क्लेश क्यों उठाना पड़ता है? क्या सूर्यमण्डलके उदय होनेपर भी कमल कभी मुरझाते हैं? यदि कहो कि संसारमें मनुष्योंको अपने पूर्वकृत कर्मोंका फल अवश्य भोगना पड़ता है, तो मनुष्योंके मांससे पुष्ट हुए उन मेरे जाने हुए दैत्यराजोंने अवश्य आपके बलको जीत लिया था।

नित्यानन्दसुधानिधेरधिगतः सन्नीलमेघः सता-
मौत्कण्ठ्यप्रबलप्रभञ्जनभरैराकर्षितो वर्षति ।
विज्ञानामृतमद्भुतं निजवचोधाराभिरारादिदं
चेतश्चातकचेन्न वाञ्छसि मृषाक्रान्तोऽसि सुप्तोऽसि किम्

नित्यानन्दरूपी अमृतके समुद्रसे निकला हुआ और सज्जनोंकी उत्कण्ठारूप प्रबल वायुसे उड़ाकर लाया हुआ सत्स्वरूप नीलमेघ तेरे पास ही अद्भुत विज्ञानामृतकी अपने वचनरूपी धाराओंमें वर्षा कर रहा है। अरे चित्तरूपी पपीहे ! यदि तुझे उसे पीनेकी इच्छा नहीं होती तो तुझे व्यर्थ ही किसीने पकड़ रक्खा है, या तू सो गया है ?

चेतश्चञ्चलतां विहाय पुरतः सन्धाय कोटिद्वयं
तत्रैकत्र निधेहि सर्वविषयानन्यत्र च श्रीपतिम् ।
विश्रान्तिर्हितमप्यहो क नु तयोर्मध्ये तदालोच्यतां
युक्त्या वानुभवेन यत्र परमानन्दश्च तत्सेव्यताम् ॥

अरे चित्त ! चञ्चलताको छोड़कर अपने सामने तराजूके दोनों पलड़ोंको रख; उनमेंसे एकमें समस्त विषयोंको और दूसरेमें भगवान् श्रीपतिको रख। उन दोनोंमेंसे किसमें अधिक शान्ति और हित है इसका विचार कर, और युक्ति तथा अनुभवसे जिसमें परमानन्दकी प्रतीति हो उसीका सेवन कर।

पुत्रान्पौत्रमथ स्त्रियोऽन्ययुवतीर्वित्तान्यथोऽन्यद्धनं
भोज्यादिष्वपि तारतम्यवशतो नालं समुत्कण्ठया ।
नैतादृग्यदुनायके समुदिते चेतस्यनन्ते विभौ
सान्द्रानन्दसुधार्णवे विहरति स्वैरं यतो निर्भयम् ॥

पुत्र, पौत्र, स्त्रियाँ, अन्य युवतियाँ, विभव तथा अन्य प्रकार-के धन और भोज्य आदि पदार्थोंमें तारतम्य होनेसे इनमें कभी उत्कण्ठाकी शान्ति नहीं होती; किन्तु अनन्त और अति गम्भीर आनन्दामृतसिन्धु श्रीयदुनायकके चित्तमें उदय होकर स्वच्छन्द विहार करनेपर ऐसा नहीं होता, क्योंकि उस समय चित्त स्वच्छन्द एवं निर्भय हो जाता है ।

काम्योपासनयार्थयन्त्यनुदिनं किञ्चित्फलं स्वेप्सितं
केचित्स्वर्गमथापवर्गमपरे योगादियज्ञादिभिः ।
अस्माकं यदुनन्दनाङ्घ्रियुगलध्यानावधानार्थिनां
किं लोकेन दमेन किं नृपतिना स्वर्गापवर्गैश्च किम् ॥

कोई लोग तो सकाम उपासनाके द्वारा नित्यप्रति अपने किसी अभीष्ट फलकी प्रार्थना किया करते हैं, और कोई योग तथा यज्ञादि अन्य साधनोंसे स्वर्ग और अपवर्गकी याचना करते हैं । किन्तु श्रीयदुनाथके चरण-कमलोंके ध्यानमें ही सावधान रहनेके इच्छुक हमलोगोंको लोकसे, दमसे, राजासे, स्वर्गसे और अपवर्गसे क्या काम है ?

आश्रितमात्रं पुरुषं स्वाभिमुखं कर्षति श्रीशः ।
लोहमपि चुम्बकाश्मा सम्मुखमात्रं जडं यद्वत्॥२५१॥

भगवान् श्रीपति अपने आश्रितमात्र पुरुषको अपनी ओर इस प्रकार खींच लेते हैं जैसे सामने आये हुए जड लोहेको चुम्बक खींच लेता है ।

अयमुत्तमोऽयमधमो जात्या रूपेण सम्पदा वयसा ।
श्लाघ्योऽश्लाघ्यो वेत्थं न वेत्ति भगवाननुग्रहावसरे ॥

भगवान् कृपा करते समय यह नहीं देखते कि जाति, रूप, सम्पत्ति और अवस्थाके विचारसे अमुक पुरुष तो उत्तम है और अमुक अधम ।

अन्तःस्थभावभोक्ता ततोऽन्तरात्मा महामेघः ।
खदिरश्चम्पक इव वा प्रवर्षणं किं विचारयति ॥२५३॥

यह अन्तर्यामी परमात्मारूप महामेघ पुरुषके आन्तरिक भावका ही भोक्ता है । वर्षाके समय मेघ यह कब विचारता है कि यह तो खदिर (खैर) है और यह चम्पा है ।

यद्यपि सर्वत्र समस्तथापि नृहरिस्तथाप्येते ।
भक्ताः परमानन्दे रमन्ति सदयावलोकेन ॥२५४॥

यद्यपि श्रीहरि सर्वत्र समान हैं तथापि ये भक्तजन उनकी दयामयी दृष्टिसे नित्य परमानन्दमें मग्न रहते हैं ।

सुतरामनन्यशरणाः क्षीराद्याहारमन्तरा यद्वत्।
केवलया स्नेहदृशा कच्छपतनयाः प्रजीवन्ति ॥२५५॥

जिनका कोई अन्य आश्रय नहीं है ऐसे कछुईके बच्चे जिस प्रकार दूध आदि आहारके बिना ही केवल माताकी स्नेह-दृष्टिसे ही पलते हैं, उसी प्रकार अनन्य भक्त भी भगवान्‌की दया-दृष्टिके सहारे ही जीवन-निर्वाह करते हैं।

यद्यपि गगनं शून्यं तथापि जलदामृतांशुरूपेण।
चातकचकोरनाम्नोर्दृढभावात्पूरयत्याशाम् ॥२५६॥

यद्यपि आकाश शून्यरूप है तथापि चातक और चकोरकी दृढ़ भावनासे मेघ और चन्द्रमाके रूपमें वह उनकी आशाओंको पूर्ण कर देता है!

तद्वद्व्रजतां पुंसां दृग्वाङ्मनसामगोचरोऽपि हरिः।
कृपया फलत्यकस्मात्सत्यानन्दामृतेन विपुलेन॥

इसी प्रकार वाणी और मनके अगोचर होकर भी श्रीहरि अपने शरणागत पुरुषोंकी कामनाओंको अकारण ही कृपापूर्वक सत्यानन्दरूपी प्रचुर अमृतसे पूर्ण कर देते हैं।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यस्य श्रीगोविन्दभगवत्पूज्यपाद-
शिष्यस्य श्रीमच्छङ्करभगवतः कृतौ
प्रबोधसुधाकरः समाप्तः

याद रखिये !

अन्तःकरण भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजीके चरणकमलोंकी भक्तिके बिना कभी शुद्ध नहीं हो सकता। जैसे वस्त्रको खारयुक्त जलसे शुद्ध किया जाता है, उसी प्रकार चित्तको भक्तिसे निर्मल किया जा सकता है।

—श्रीशंकराचार्य